योगवाशिष्ठसार

डा. क्षितीश चन्द्र चक्रवर्ती

ॐ

योगवाशिष्ठसार

लेखक

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ डॉ० क्षितीशचन्द्र चक्रवर्ती

(एम० ए०, डी० फिल०, बी० एल०)

संस्थापक

अद्वैत संस्था एवं

अखिल अद्वैत विश्वविद्यालय, (नेपाल)

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य कुटीर

हाथीगली, वाराणसी २२१००१

प्रकाशक —

हिन्दी साहित्य कुटीर

हाथीगली, वाराणसी-२२१००१

© प्रकाशकाधीन

चतुर्थ संस्करण

दीपावली १९९२

मूल्य—

५०-००

हिन्दी साहित्य कुटीर
वाराणसी-१

मुद्रक—

कुसुम कम्पोजिंग वर्क्स

के० ४७/२७० ए० कतुआपुरा

वाराणसी

FOREWORD

I have gone through the contents of the above work with great care and attention. It has impressed me as a very useful handbook for a practical student of Vedanta aspiring after Self-realisation. The work is a brief resume of tha 'Yoga Vasishtha Ramayana' summing up its main teachings under certain well marked broad heads from the initial Vairagya (Ditachment and Renunciation, up to the final Nirvana Absolution). The discourses on the Falsity of the world, quiescence through extinction of vasanas and manas essential character of the pure Atma and the way to its realisation, contemplation, jivanmukti and Nirvana are all admirably written and reflect true insight in the writer who has spent most of his life in pursuit of these truths, It is not easy for an ordinary man in quest of Vedantic knowledge to take full advantage of a recondite work like the Yoga-Vasishtha, but he may be immensely benefited by a smaller book like the one under notice which teaches the same t uths in a way more intelligible to him. The language of the discourses is simple and elegant and its general presentation it consistent with nature of the topics dealt with.

In view of the the intrinsic merit of the work it may be reasonably hoped that it will commend a wide circulation among earnest students of Vedanta.

VARANASI

—Gopinath Kaviraj

भारत प्रसिद्ध दार्शनिक महामहोपाध्याय

श्री गोपीनाथ कविराज, एम० ए० डी० लिट् महोदयकी

प्रस्तावना का हिन्दी अनुवाद

प्रस्तुत ग्रन्थ को मैंने अत्यन्त ध्यानपूर्वक और सावधान होकर पढ़ा। मेरी धारणा है कि यह ग्रन्थ वेदान्त के तत्वों को प्रयोग में लाकर आत्म-साक्षात्कार करने के इच्छुक साधकोंके लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा। इसमें 'वासिष्ठ-रामायण' के प्रारम्भिक वैराग्य से लेकर अन्तिम निर्वाण तक के मुख्य-मुख्य अधिकरणों के प्रधान उपदेशों का सारांश दिया हुआ है। जगत् के मिथ्यात्व, वासना-क्षय तथा मनोनाश द्वारा शाश्वत शान्ति की प्राप्ति, शुद्धात्मा का स्वरूप और उसका साक्षात्कार करने के लिए ध्यानादि उपाय, जीवन्मुक्ति तथा निर्वाणादि प्रकरणों का विवेचन बड़ी सुन्दरता से किया गया है, जिसे प्राप्त करने के लिए उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग व्यतीत किया है। साधारण मनुष्यों के लिए 'योगवासिष्ठ' जैसे ग्रन्थों को पूरी तरह समझ लेना सरल नहीं है। किन्तु प्रस्तुत पुस्तक के समान लिखे गये छोटे ग्रन्थ, जिनमें उसके तत्वों को सरल ढंग से समझाया गया हो, उनके लिए लाभकारी सिद्ध हो सकते हैं। पुस्तक की भाषा सरल और सुन्दर है तथा विषयोंका विवेचन प्रकरणों के अनुरूप ही हुआ है।

पुस्तक की मौलिक उपादेयता की दृष्टि से आशा की जा सकती है कि वेदान्त के सच्चे जिज्ञासुओं में इसका विशेष प्रचार होगा।

भूमिका

प्रस्तुत 'योगवाशिष्ठसार' मूल बृहद् योगवाशिष्ठ महारामायण के ६ प्रकरणों का साररूप में दो सौ श्लोकों के साथ मौलिक ग्रन्थ है। इस लघु संस्करण में संस्कृत के प्रत्येक श्लोकों की अत्यन्त सरल हिन्दी भाषा में सुन्दर विवेचना की गयी है, जो इसकी प्रमुख विशेषता है।

कोई भी व्यक्ति (जो संस्कृत से अनभिज्ञ है) इसका सरलतापूर्वक अध्ययन कर मूल बृहद् योगवासिष्ठ के गूढ़ दर्शनों को हृदयंगम कर सकेगा और उसे मुक्ति के लिए अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं रह जाती है। मोक्ष प्राप्ति के उपाय ढूँढने की चेष्टा में व्यक्ति को आत्मानुभव होता है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से व्यक्ति के सम्पूर्ण क्लेशों का अन्त होकर उसके हृदय में अपूर्व शांति प्राप्त होगी। अध्यनार्थी सांसारिक सुख-दुख की परिधि से बाहर निकलकर परम आनन्द का अनुभव करेगा। मनोयोगपूर्वक अध्ययन करने वाले निश्चय ही इस जीवन में ब्रह्मज्ञान कर मुक्ति को प्राप्त करेंगे। यह ग्रन्थ ज्ञान का भण्डार है। वेदान्त के ग्रन्थों में यह चमकता हुआ रत्न है। मुमुक्षु को इसका स्वाध्याय नित्य करना चाहिए।

'योगवाशिष्ठ' में वेदान्त दर्शन के प्रारम्भिक स्वरूप का दिग्दर्शन है। इसमें किसी प्रकार के विरोध एवं तर्क का स्थान यथा—अध्यास, साधन-चतुष्टय, सविशेष, निर्विशेष ब्रह्म, उपाधि, बाध इत्यादि नहीं है। महर्षि वशिष्ठ के अनुसार सत्य और सत्ता एक ही है जो चेतन-अचेतन दोनों के बीच का साधन है। हमारे ज्ञान की यथार्थता पूर्वकल्पित है। ज्ञान कल्पना के रूप में स्वयं बोधित होता है। सामान्यतः जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन उपनिषदों द्वारा किया गया है, वशिष्ट के अनुसार भी एक ही कर्त्ता ने अपनी भावना से सम्पूर्ण जगत् का सृजन किया है। यह प्रयोगात्मक विश्व स्पष्टतया उसी के मस्तिष्क की उत्पत्ति है और बाह्य पदार्थ सर्वथा असत् है।

२२ कांग्रेस एक्जीबीशन रोड
पार्क सर्कस, पो० बा० १६०२४
कलकत्ता–१७

—डा० क्षिताशचन्द्र चक्रवर्ती

श्री गुरुदेव डा० क्षितीशचन्द्र चक्रवर्तीजी

(संक्षिप्त परिचय)

परमपूज्य श्री गुरुदेव का जन्म सन् १८९९ वैशाख शुक्ल पंचमी के दिन (जो आद्य शंकराचार्य का जन्म दिन है), पूर्वी बंगाल के बारबर गंज शोलक नामक स्थान में एक शिक्षित एवं प्रतिष्ठित ब्राह्मण कुल में हुआ था। बचपन से ही आप अत्यन्त मेधावी, कुशाग्रबुद्धि, एवं प्रतिभा सम्पन्न थे। सन् १९१५ से १९२१ तक आपने कलकते के के सुप्रसिद्ध प्रेसीडेन्सी कालेज में शिक्षा प्राप्त की और प्रथम श्रेणी में एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण किया। आपने कानून में बी०एल० उपाधि भी प्राप्त की। कुछ दिनों तक कोरहाट कालेज में प्राध्यापन करने के बाद सन् १९२८ में आप काठमांडू (नेपाल) बुलाये गये। वहाँ त्रिचन्द कालेज में अंगरेजी विभाग के अध्यक्ष पद पर रहकर सन् १९५० तक अध्यापन कार्य करते रहे।

इसी समय नेपाल में पशुपतिनाथ मन्दिर के सुप्रसिद्ध बीतराग महात्मा वासुकी ब्रह्मचारी जी के शिष्य बनकर आपने शांकरभाष्य सहित प्रस्थानत्रयी एवं योगवाशिष्ठ का स्वयं परिश्रम के साथ अध्ययन और अनुसन्धान किया। आप आत्मज्ञान के इच्छुक रहते हुए गुरु सेवा एवं ईश्वरभक्ति में तल्लीन रहने लगे। अध्यापन कार्य करते हुए आपने काठमांडू में भारतीय दर्शन धर्म के व्याख्याता के रूप में महत्वपूर्ण कार्य किया। आद्य श्रीशंकराचार्य के वेदान्त ग्रन्थों तथा उसके उत्तरार्ध के रूप में 'योगवाशिष्ठ-रामायण' के उपदेशों पर जीवन-निर्माण करने का आपका सर्वाधिक आग्रह रहा है।

आपने अपने व्यावहारिक कार्यों के साथ शास्त्रों का नियमित अध्ययन-अध्यापन, चिंतन, सत्संग आदि साधनों को अपनाते हुए बड़े ही परिश्रम से शास्त्र के समस्त आशयों को अच्छी तरह से समझ लिया और ईश्वर के अनुग्रहस्वरूप आत्मसाक्षात्कार पाया। आत्म-साक्षात्कार की अन्तिम प्रेरणा आपको योगावाशिष्ठ से ही प्राप्त हुई।

आपने हिन्दू संस्कृति के सर्वोच्च एवं अन्तिम लक्ष्य जीवनमुक्ति पद को प्राप्त कर जीवन को सफल बनाया।

श्री गुरुदेव चक्रवर्ती जी काठमांडू में रहते हुए वाराणसी से प्रकाशित होने वाली 'सिद्धान्त' पत्रिका में १२ वर्षों तक लगातार हिन्दी में आध्यात्मिक लेख लिखते रहते रहे। वेदान्त और आध्यात्मदर्शन पर जिज्ञासुओं द्वारा उठाये सभी प्रश्नों का सहज सामाधान भी आप करते रहते हैं।

श्री चक्रवर्ती जी काठमाण्डू से सन् १९५० में कलकत्ता वापस आये और सन् १९६२ तक विभिन्न कालेजों के प्रधानाचार्य पद को सुशोभित कर "ज्ञानवान पुरुष भी प्रारब्ध पतित कर्म अनासक्त होकर करते ही रहते हैं" इस शास्त्रोक्ति को चरितार्थ किया। आपने नेपाल रहते हुए एक विचार प्रधान आध्यात्मिक प्रतिष्ठान की भी स्थापना की। इस प्रतिष्ठान को नेपाल में विभिन्न स्थानों पर विस्तार किया गया। यहाँ अद्वैत सिद्धान्तों का महत्वपूर्ण उपदेश भी आप देते रहते थे।

श्री चक्रवर्ती जी द्वारा हिन्दी, नेपाली, अँगरेजी में अध्यात्म परक ने आपके 'VISION OF REALITY' नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ पर आपको डि० फिल० की उपाधि से सम्मानित किया। आपके अनेक उपदेश संग्रह तथा अप्रकाशित लेखावली भी क्रमशः प्रकाशित होती जा रही है।

वेदान्त जगत् में आपका अद्वितीय स्थान है। आप पूर्वी एवं पाश्चात्य दर्शन के मर्मज्ञ, सुप्रसिद्ध शिक्षाविद् एवं उद्भट विद्वान् माने जाते हैं। वेदान्त शास्त्र के महान आचार्य भगवान् शंकराचार्य एवं भगवान् वशिष्ठ के सिद्धान्तों के आप प्रतीक युगपुरुष हैं। वेदान्त के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन सरल भाषा में सर्वसामान्य के बीच आपने ही किया।

आपने नेपाल में रहकर ब्रह्मात्म साक्षात्कार किया था इसलिए

वहाँ आप विशेष प्रयत्नशील रहे हैं। आप आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य की तरह नेपाल के पाँच प्रसिद्ध स्थल – जनकपुर, काठमांडू, व्यासभूमि (दमौली), नारायणगढ़ और रिडी में पाँच आचार्यपीठों में तीन की स्थापनाकर चके हैं। आचार्य के लिए सुयोग्य शिष्यों को आप तालीम दे रहे हैं। ये लोग अद्वैत वेदान्त के ज्ञानी और अनुभवी ब्रह्मवेत्ता होंगे।

भारतीय दर्शन का वास्तविक लक्ष्य आत्मज्ञान है। इसे पाने के लिए निष्काम कर्म एवं भगवद्भक्ति की आवश्यकता है। जगद्वासना के आत्यन्तिक क्षय के लिए गीतोक्त ज्ञाननिष्ठा आवश्यक है। समाधि अभ्यास से आत्म संस्कार का उपचय होता है। फलस्वरूप अन्तिम साक्षात्कारवृत्ति का उदय होता है, जिससे परमात्मा अज्ञान-अन्धकार को विनष्ट कर देता है। जीव, शिव बन जाता है। इस रहस्य को समझाने वाले गुरुदेव डा० क्षितीशचन्द्र चक्रवर्ती जी दीर्घायु और स्वस्थ रहे। परमात्मा से यही कामना करते हैं।

अद्वैत संस्था, (केन्द्रीय कार्यालय)
अद्वैतमार्ग, पो० बा० १५१५
काठमांडू (नेपाल)

विनीत –

ज्ञानेश्वर सरस्वती 'देवेश्वर'

—

योगवशिष्ठसार

अनुक्रम

विषय	पृष्ठ
विषय परिचय	१०-१६
१. वैराग्य	१७-३६
२. जगन्मिथ्यात्व	३७-६२
३. जीवन्मुक्त-लक्षण	६३-८७
४. मनोलय	८८-१०७
५. वासनोपशम	१०८-१२५
६. आत्म-मनन	१२६-१३३
७. शुद्ध-निरूपण	१३४-१५१
८. आत्मार्चन	१५२-१६२
९. आत्मस्वरूप-निरूपण	१६३-१८९
१०. जीवन्मुक्ति और निर्वाण	१९०-२१६

विषय-परिचय

वेदान्त-शास्त्र जैसा दूसरा उत्तम शास्त्र नहीं है, क्योंकि इसमें एक स्वतन्त्र तत्व द्वारा जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान मिलता। जिस एक तत्व को जानने से सबका ज्ञान हो जाता है, वही परमतत्व शास्त्र में व्यवहार के लिए आत्मा, चित्, ऋत्, ब्रह्म, शिव, सत्, आनन्द आदि कल्पित नामों से निर्दिष्ट है।

वेदांतशास्त्रपर अनेक ग्रन्थ मिलते हैं, किन्तु उनमें प्रस्थानत्रयी, योगवासिष्ठ और माण्डूक्यकारिका मुख्य प्रमाणित माने गये हैं। 'बृहद् योगवासिष्ठ' में से किसी ने 'लघुयोगवासिष्ठ' तैयार किया है और उसमें से भी 'योगवासिष्ठसार' निकाला गया है। आजकलके प्रवृत्ति-युग में लोगों को बृहद् योगवासिष्ठ का अभ्यास करने का समय मिलना कठिन समझ कर किसी परोपकारी सज्जन ने लोगों के हित के लिए यह प्रयत्न किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। बृहद् योगवासिष्ठ में ३२००० या ३३००० श्लोक हैं। लेखक को नेपाल के 'राजकीय हस्तलिखित पुस्तकालय' में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की छानबीन करते समय 'योगवासिष्ठ' (योगवाशिष्ठसार) नामक बहुमूल्य ग्रन्थ प्राप्त हुआ, जिसमें योगवाशिष्ठ महारामायण का दार्शनिक रहस्य साररूप में उल्लिखित है। फिर उन्होंने अपनी प्रखर विद्वत्ता एवं अनुभव के सहारे इसका विशेष अनुसन्धानकर इसको अत्यन्त परिश्रमपूर्वक निष्काम भावना से तैयार किया है। इसका अध्ययन करने से पाठकों को इसकी विशेषता स्वतः ज्ञात होगी।

यों तो योगवाशिष्ठसार का प्रकाशन हिन्दी गुजराती आदि अनेक भाषाओं में हो चुका है, किन्तु प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने श्रुति, स्मृति, युक्ति और अनुभव के आधार पर उसकी सुन्दर एवं सरस व्याख्या की है, जिससे साधारण लोग भी इसे हृदयंगम कर सकते हैं। व्याख्या में श्रुति, गीता, त्रिपुरारहस्य, बृहस्पतिसंहिता तथा श्रीमच्छंकराचार्य के विभिन्न ग्रन्थों के उद्धरण देकर इसका महत्त्व और भी

बढ़ा दिया है। इसलिए यह मुमुक्षुओं को नित्य के स्वाध्याय के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा ऐसी दृढ़ धारणा है।

योगवाशिष्ठका महत्व अध्यात्मप्रेमियों को तो विदित ही है। हिन्दुओं के लिए तो यह ग्रन्थ अत्यन्त आदरणीय है ही किन्तु जैनधर्म वाले भी इसका आदर करते हैं, क्योंकि इसमें किसी सम्प्रदायविशेष का उल्लेख नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्रजी जी ने महात्मा गान्धीजी को भी इसका अभ्यास करने के लिए कहा था, इसका उल्लेख पूज्य स्वामी श्री माधवतीर्थजी ने गुजराती योगवाशिष्ठसार की प्रस्तावना में किया है। पूर्वाचार्यों ने तो इसे अत्यन्त महत्व दिया ही है, किन्तु आधुनिक आचार्य एवं सन्तमहात्मा भी इसका अत्यन्त आदर करते हैं। पूज्य श्रीविद्यारण्य स्वामीजी ने अपने 'जीवन्मुक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ में इसको परम गौरवके साथ स्वीकार किया है और महाभारत के टीकाकार श्रीनीलकण्ठजीने भी इस ग्रन्थ की स्थान-स्थान पर महिमा गायी है। मेरे विचारसे कोई भी प्रश्न ऐसा न मिलेगा, जिसका समाधान योगवासिष्ठमें न मिले। ईश्वर कृपासे मुझे वेदान्त के कई ग्रन्थ देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उसके आधार पर मेरा यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि इस ग्रन्थकी तुलनामें दूसरा ग्रंथ मिलना दुर्लभ है। यह सब श्रुतियों का सार एवं माण्डूक्यकारिका का वार्तिक (व्याख्यान) ग्रन्थ है। इस मोक्षोपायशास्त्र के प्रसंग में महर्षि वसिष्ठ ने कहा है कि जो इस ग्रन्थ में है, वह अन्य ग्रन्थों में है और जो इसमें नहीं है, वह दूसरे किसी ग्रन्थ में नहीं है। विद्वान् लोग इसे समस्त ज्ञानशास्त्रों का कोष समझते हैं।

'योगवासिष्ठ' प्रमाण ग्रंथ तो है ही, साथ ही वह महाकाव्य भी है। इसमें उपमा आदि अलङ्कारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया गया है। युक्ति और अनुभव की तो इसमें भरमार है। वेदांतशास्त्र से प्रेम न रखने वाला भी यदि काव्य और अलंकार की दृष्टि से इसे देखे तो उसे इसमें वह सामग्री प्रचुर मात्रा में प्राप्त होगी। इसमें प्रातःकाल, सन्ध्या,

ग्राम, वन-उपवन, युद्ध, सरोवर, कमल, समुद्र, पर्वत, हंस, समुद्र, भ्रमर आदि एवं आख्यानों का वर्णन तत्वज्ञान के साथ इतनी सुन्दर आलंकारिक भाषा में किया गया है कि कहते नहीं बनता। सारांश, इसमें सब प्रकार की रुचिवालों के लिए पर्याप्त सामग्री है और यही इसकी अलौकिकता है। यही कौतुक से भी इसका अध्ययन किया जाय तो भी जैसे बालू में से सुवर्ण निकलता है, वैसे ही इससे मोक्ष प्राप्त होगा। किसी शास्त्रकार ने इसके महत्त्वको नीचे के एक श्लोक द्वारा साररूप में समझाने का प्रयत्न किया है, जिससे पाठकों को इसकी अगाध महत्ता विदित हो जायगी—

श्रीरामसदृशः शिष्यो वसिष्ठसदृशो गुरुः।
वासिष्ठसदृशं शास्त्रं न भूतो न भविष्यति ॥'

सभी शास्त्रों का उद्देश्य है, जीवको द्वैतरूप गहन अरण्य से निकाल कर अद्वैतरूप परमपदमें पहुँचाना। परमपद में स्थिति के दो उपाय हैं- योग और सांख्य। चित्तवृत्ति के निरोध का नाम योग है और अत्यन्त सूक्ष्मरूप से सम्पूर्ण अवलोकन करना ज्ञान है। सत्सङ्ग और सच्छास्त्राभ्याससे ज्ञान प्राप्त होता है। मोहजालरूप अज्ञान को दूर करने में तप, दान, व्रत आदि कोई भी क्रिया काम नहीं आती। केवल ज्ञान से ही उसकी निवृत्ति होती है। 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' 'ऋते ज्ञाना न मुक्तिः—' ये श्रुति-स्मृतियाँ ज्ञान से ही मुक्ति होना बताती हैं। अतः ज्ञान का ही सम्पादन करना चाहिए। सत्सग, विचार, शान्ति और सन्तोष ये चार मोक्षदार के द्वारपाल हैं। इन चारों का या इनमें से तीन, दो या एक को भी वश में कर लें, तो शेष सभी वश में हो जाते हैं। आजकल सत्सङ्ग का लाभ मिलना अत्यन्त दुर्लभ है; क्योंकि एक तो इतना अवकाश मिलना कठिन है और दूसरे सच्चे महात्माओं का मिलना भी दुर्लभ है। 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' इस शास्त्रोक्ति से भी यही सिद्ध होता है। ऐसी स्थितिमें सच्छास्त्राभ्यास ही एकमात्र

उपाय रह जाता है, वह भी परोक्षरूप में सत्संग हो है। यदि इसके साथ अपरोक्ष सत्संग भी मिल जाय, तो अत्युत्तम ही है।

आत्मा का अदर्शन ही अज्ञान या अविद्या है और उसे यथार्थ रूप में जानना ही ज्ञान है। ज्ञानप्राप्ति के लिए प्रयत्न की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह स्वयंप्रकाश और अपना स्वरूप है। किसी गुजराती सन्त ने कहा है कि 'तल भर तालु ने रज भर कूँची' इसीको धीरा भगत ने कहा है--'तरणा ओठे डूँगर रे, डूंगर कोई देखे नहीं' अर्थात् तृण की आड़ में पर्वत छिपा है, इसलिए पर्वत कोई नहीं देख पाता। इसी को दार्ष्टान्तिक में घटाने से यह अर्थ निकलता है कि आत्मा देह में एवं बाहर सर्वत्र व्याप्त होने पर भी अविद्यासे आवृत होने के कारण कोई उसे देख नहीं पाता। अन्तः अविद्या की निवृत्ति के लिए प्रयत्न की आवश्यकता है। अनादि काल से अनेक जन्मों की वासनाएँ अन्तःकरण में अत्यन्त दृढ़ हो गई हैं, इसीलिए उनके नाशके लिए दीर्घकालतक सतत एवं नियमित अभ्यास करना चाहिए। श्रीवसिष्ठजी ने कहा है-

'जन्मान्तरचिराभ्यस्ता राम संसारसंस्थिति।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित्॥'

हर एक मनुष्य सुख चाहता है और इसके लिए प्रयत्न भी करता है, किन्तु सुख के बदले दुःख ही प्राप्त होता है। ऐसा क्यों? इसीलिए कि वह सुखका वास्तविक स्वरूप नहीं जानता। रोग कुछ होता है और उपचार कुछ, तो रोग दूर होने के बजाय वह अधिक बढ़ता जाता है। यदि मनुष्य किसी प्रकार की इच्छा न करे, तो सुख तो उसे सुप्राप्त ही है; क्योंकि वह उसका स्वरूप ही है। इच्छा ही अनन्त दुःखों की जननी है और इच्छा त्याग ही अनन्त सुख की खानि है। जीव वास्तव में ब्रह्मस्वरूप ही है, किन्तु इच्छा की वशता से उसकी 'जीव' संज्ञा हो जाती है। इस विषय में योगवाशिष्ठ में कहा है—

'यावद् विषयभोगाशा जीवाख्या तावदात्मनः।
अविवेकेन सम्पन्ना सोऽप्याशा हि न वस्तुतः॥'

वेदांतमें वैराग्य का स्थान सर्वप्रथम है। जबतक संसार के विषय-भोगों से वैराग्य नहीं होता, तबतक मुक्त होने की इच्छा ही नहीं होती। वैराग्य दो प्रकार से होता है—एक तो दुःख से और दूसरा पूर्व-पुण्यों से विवेक उदित होने पर। यही समाधिरूप कल्पवृक्ष का बीज है। यदि ईश्वरानुग्रह से विवेक वैराग्य आदि साधनसम्पत्ति प्राप्त हो जाय, तो आत्मा का उद्धार कर लेना चाहिए। आत्मा ही आत्मा का बन्धु और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। अतः दैव पर भरोसा रखकर आत्मा को संसाररूप अन्धकूप में नहीं डाल रखना चाहिए। योगवासिष्ठ में दैव की दुर्बलता और पुरुष प्रयत्न की प्रबलता पर स्थान-स्थानपर अत्यन्त जोर दिया गया है। केवल मुमुक्षु प्रकरण में ही इसके लिए स्वतन्त्ररूप से ४ से ९ तक ६ सर्ग दिये हैं। सांसारिक कार्यों में भी देखा जाता है कि जबतक दूसरे विषय का त्याग कर इच्छित विषय में मन को एकाग्र नहीं किया जाता, तबतक कार्य-सिद्धि नहीं होती। तब तत्त्वज्ञान की, जो विविध तापों से छुड़ाने का परम साधन है, प्राप्ति के लिए यदि सर्वत्याग न किया जाय तो उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? यदि सर्वनाश हो जाय, तो उसकी भी चिन्ता न कर तत्वज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। इस प्रकार यदि उसकी प्राप्ति हो जाय, तो इसे परम सौभाग्य समझना चाहिए, क्योंकि उससे परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है। थोड़े से त्याग से परमात्मा नही मिलते, सर्वत्याग करने पर ही उनकी प्राप्ति होती है। चित्त को ही 'सर्व' शब्द से कहा गया है, क्योंकि वही सर्वरूप हो गया है। अतएव चित्तत्याग ही सर्वत्याग है। योगवाशिष्ठ में भी चूडाला, शिखिध्वज एवं बृहस्पति के पुत्र कच के उपाख्यानों में सुन्दर रूप से इसका विशद विवेचन किया गया है।

विवेक, वैराग्य आदि साधन-सम्पत्ति बाजार में नहीं बिकती। यदि कोई चाहे कि उसे मैं पैसों से प्राप्त कर लूँ तो वह अत्यन्त असम्भव एवं हास्यस्पद होगा। यह तो ईश्वरानुग्रह से ही प्राप्त होती है और ईश्वरानुग्रह निष्काम कर्म एवं भक्ति से प्राप्त होता है। मुक्ति

प्राप्त करने में धन, मित्र, बांधव कोई भी काम नहीं आते। उसमें तो केवल भोगों का त्याग, आत्मविचार और मन-इन्द्रियों का निग्रह करने के लिए पुरुषार्थ —इन तीनों के सिवा दूसरे किसी साधन की अपेक्षा नहीं रहती। इसलिए सभी अनात्म-वस्तुओंका त्यागकर तत्वज्ञान द्वारा केवल अपनी आत्माकी शरण लेनी चाहिए। ज्ञानमार्ग में हृदय पाषाण-सा कठोर करना पड़ता है। शास्त्र में भी कहा है 'क्षुरस्य धारा निशिता दूरत्यया।' क्योंकि इसमें संसार का त्याग करना पड़ता है। वेदांतशास्त्र संसार का त्याग करानेवाला होने से उसमें कही हुई कथाएँ वैरी की कथाओं जैसी अप्रिय लगती हैं, जबकि अन्य शास्त्र संसार में प्रवृत्ति करानेवाले होने से उनमें कही हुई कथाएँ स्त्री-वचनों जैसी मधुर लगती हैं। किन्तु वैरी की बात भी विचार करने पर अनुभव करानेवाली हो, तो उसे ग्रहण करना चाहिए और स्त्री की भी यदि वेदोक्त पुरुषार्थ से भ्रष्ट करानेवाली हो, तो उसे त्याग देना चाहिए। ब्रह्मविद्या सब विद्याओं में उत्तम है। जिसमें इसका वर्णन आता हो उसे सच्छास्त्र कहते हैं। उनके अभ्यास से मुक्ति प्राप्त होती है।

योगवासिष्ठ में महर्षि वसिष्ठ ने श्रीराम को जीवन्मुक्ति के लक्षण बतलाते हुए कहा है कि हे राम! जब तुम्हारे मन में विषय-भोग की रुचि न हो, तब तुम समझ लो कि मैं ज्ञानी हो गया और संसार-सागर को पार कर गया हूँ। मोक्ष का भागी कौन होता है, इस विषय में भी उन्होंने बताया है कि इस संसार में जो पुरुष मोक्षोपाय के विचार में प्रवृत्त होता है, वह मोक्ष का भागी हो जाता है। अभ्यास की सफलता जानने के लिए महर्षि वसिष्ठ ने सुन्दर कुंजी बतायी है

'विचार सफलस्तस्य विज्ञेयो यस्य सन्मते।
दिनानुदिनमायाति तानवं भोगगृध्नुता॥

अर्थात् जिस भाग्यशाली की भोगवासना दिन-दिन क्षीण हो रही हो, तो समझ लेना चाहिए कि उसका अभ्यास सफल हो रहा है। इससे मनुष्य अपनी साधना की सफलता के विषय में निश्चित रूप से निर्णय

कर साधनपथमें आगे बढ़ सकता है। इस प्रकार भगवान् वसिष्ठने श्रीराम को निमित्त बनाकर हम लोगों को ही यह हिततम उपदेश दिया है।

किसी को यह शंका हो सकती है कि इतने बड़े योगवासिष्ठ ग्रन्थ की क्या आवश्यकता थी ? किन्तु बात यह है कि अधिकारी तीन प्रकार के होते हैं - उत्तम, मध्यम और मन्द। उत्तम अधिकारी को तो केवल महावाक्योपदेश के श्रवण से ही ज्ञान हो जाता है, किन्तु मध्यम और मन्द अधिकारी को बार-बार श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करना पड़ता है। इसीलिए महर्षि वसिष्ठ ने कहा कि अतिकुशल बुद्धि वाले को ही अभ्यास की अपेक्षा नहीं रहती, शेष अविवेकी पुरुषों को तो इतना सारा विस्तार से कहने पर भी दुर्बोध आत्मतत्त्व समझ में ही नहीं आता। अतः बोध की दृढ़ता के लिए एक ही बात बार-बार कहने में आती है, जैसा कि महर्षि वसिष्ठ ने श्रीराम से कहा—

'भूयी निपुणबोधाय शृणु किञ्चिद् रघूद्वह।
पुनः पुनर्यत् कथितं तदज्ञेऽप्यवतिष्ठते ॥

गीता का उपदेश भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को रणभूमि में दिया, जबकि इस योगवासिष्ठ का उपदेश गुरुदेव श्रीवसिष्ठ द्वारा श्रीराम को राज्यसभा में दिया गया है। नित्य प्रातः सभा लगती थी, जिसमें राजा दशरथ, राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, मंत्री, सभासद, ऋषि-मुनि आदि लोग इस उपदेशामृत का पान करनेके लिए तीव्र उत्कण्ठतापूर्वक एकत्र होते थे और उसे सुनकर श्रीरामके साथ ही वे सब लोग मुक्त हो गये।

अन्त में जिस प्रकार भगवान् श्रीराम को श्रीवसिष्ठजी के उपदेश से स्वरूपानुभव हुआ, उसी प्रकार इस ग्रन्थ के अभ्यास से अधिकारी जिज्ञासुओं को भी स्वरूपानुभव की प्राप्ति हो, इस मंगल-कामना के साथ में अपने निवेदनका श्रीगुरुदेव वसिष्ठ को प्रणाम कर उपसंहार करता हूँ।

नागरवाड़ा, बाँसवाड़ा।

श्रेयार्थी

नरपतिलाल त्रिवेदी

ॐ

योगवाशिष्ठसार

भगवान् बशिष्ठ ने पन्द्रहवर्षीय श्रीरामचन्द्र को जिस वैराग्यपूर्ण ज्ञान और विज्ञानका उपदेश दिया था, जिसके श्रवणसे पूर्णब्रह्म निज स्वरूप का अनुभव सम्भव होता है, उसी समुद्रस्थानीय ब्रह्मविद्याका सार यहाँ उदधृत किया जा रहा है। यह दश प्रकरणों में विभक्त है— वैराग्य, जगन्मिथ्यात्व, मनोलय, वासनोपशम आत्ममनन,शुद्धनिरूपण, आत्मार्चन, आत्मनिरूपण, जीवन्मुक्ति और निर्वाण।

वैराग्य : १ :

'वाशिष्ठसार' नामक छोटे से ग्रन्थ के आरम्भमें ग्रन्थकर्त्ता प्रतिपाद्य प्रत्यग्ब्रह्मरूप इष्टदेवताको नमस्कार (मङ्गलाचरण) कहते हैं—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये।

स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥ १ ॥

दिक्, काल आदि से जो सीमित नहीं —ऐसे अविनाशी ज्ञानस्वरूप गुणातीत (शांत) परब्रह्म को नमस्कार करता हूँ। ब्रह्म कैसा है ? उसे केवल अनुभव की सहायता से ही जाना जा सकता है, उसे जानने के लिए दूसरा कोई प्रमाण नहीं है बुद्धि के अत्यन्त शुद्ध होने पर साक्षात्कारवृत्ति का उदय होता है। इस साभास अन्तिम वृत्ति में प्रत्यग्ब्रह्म स्वयं प्रतिफलित होता है। यह प्रतिफलन ही 'स्वानुभव' कहा जाता है। बुद्धिरूप लवणपिण्ड जब ब्रह्मसमुद्र में निक्षिप्त और विलीन होकर समुद्ररूप हो जाता है, तब स्वप्रकाश आत्मब्रह्म ही निज अपार सुखस्वरूप में परिशिष्ट रह जाता है। अर्थात ब्रह्मभाव में अत्यन्त परि-

णत प्रोज्ज्वल बुद्धि ब्रह्म को साक्षात् रूप में जानती है अथवा अत्यन्त शुद्ध बुद्धि द्वारा प्रकाशित ब्रह्म अपना अपने में अनुभव करता है। बुद्धि आत्मब्रह्म के आवरणमात्र का अपसारण करती है। ज्ञात ब्रह्म स्वप्रकाश होने के कारण बुद्धि से प्रकाशित नहीं होता, अपितु अपने में स्वयं प्रकाशमान हो उठता है। सर्वदा प्रकाशस्वभाव होने पर भी विशेषरूप से ज्ञात न रहने से ब्रह्म अप्रकाशित रहता है, अपरोक्ष बोध का उदय होने पर पुनः प्रकाशमान होता है। जिस प्रकार उपप्रभा सूर्य का प्रकाश करने में सक्षम नहीं होती; उसी प्रकार चिदाभास चैतन्य स्व-प्रकाश परब्रह्म को प्रकाशित करने में असमर्थ होकर बिम्बभूत ब्रह्म-स्वरूप में ही पर्यवसित हो जाता है। अतएव चिदानन्द ब्रह्म केवल स्वानुभव से वेद्य बतलाया गया है। प्रकाशमानता उसका निजस्वभाव है। स्वरूपतः वह अवेद्य है; क्योंकि ज्ञाता का वह निज स्वरूप है। अतः योग या बुद्धिवृत्ति की सहायता से उसका प्रकाशन सम्भव नहीं है। निर्मल निर्वासनिक चित्त में बोधकर्ता, बोध और बोध्यरूप कल्पित त्रिपुटीभाव का उपशम होने पर, बुद्धि से आत्मा का अन्तरङ्ग सम्पर्क विच्छिन्न हो जाने पर परिशिष्ट रूपमें बोधस्वरूप आत्मा स्वयं ही (बुद्धि की सहायता के बिना) भासमान या प्रत्यक्षरूप में अनुभूत हो जाता है।

वेदान्तशास्त्र का अधिकारी कौन है, यह बतलाते हुए वशिष्ठजी कहते हैं—

अहं बद्धो विमुक्तः स्यामिति यस्यास्ति निश्चयः।
नात्यन्तमज्ञो नो तज्ज्ञः सोऽस्मिञ्छास्त्रेऽधिकारवान् ॥२॥

'मैं राग-द्वेषादि से बद्ध हूँ, कैसे छूटूँगा अर्थात् मेरी मुक्ति आवश्यक है', ऐसा जिन्होंने अवधारण (निश्चय) किया है-अतः जो न तो मूर्ख ही है और न निज यथार्थ स्वरूप को जान ही सके हैं ऐसे पुरुष योगवाशिष्ठ वेदान्तशास्त्र के अधिकारी हैं। ब्रह्मज्ञ तो स्वस्वरूप जान

चुके हैं, अतः उनके लिए ज्ञान निष्प्रयोजन है; इसलिए वे इसके अधिकारी नहीं हैं। मूर्ख मनुष्य के प्रति अध्यात्मोपदेश व्यर्थ हो जाता है, अतएव वह भी इस शास्त्र का अधिकारी नहीं हो सकता। अतः विवेकशील पुरुष ही वेदान्त श्रवण का अधिकारी है। अत्यन्त अज्ञानी अपने को देहरूप मानता है और सांसारिक बिषयों में अत्यन्त निपुण होता है। यथार्थ ज्ञानी को निज स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव हो गया है। वह अपने स्वरूप के आनन्द में विभोर रहता है। उसकी दृष्टि में दूसरी कुछ भी वस्तु प्रतिभात नहीं होती। इन दोनों अवस्थाओं का मध्यवर्ती अर्थात् साधन—चतुष्टयसम्पन्न पुरुष ही वेदान्त शास्त्र का पूर्ण अधिकारी है।

अधिकारी-निरूपण के बाद ब्रह्मज्ञान के साधनरूप में सद्गुरु-सेवा आदि का उपदेश किया जा रहा है—

यावन्नानुग्रहः साक्षाज्जायते परमेश्वरात्।
तावन्न सद्गुरुं कश्चित्सच्छास्त्रं बाऽपि नालभेत् ॥३॥

परमेश्वर का साक्षात् अनुग्रह प्राप्त हुए बिना कोई भी सद्गुरु प्राप्त नहीं कर सकता या सच्छास्त्र के अभ्यास में रत नहीं हो सकता। अर्थात् ईश्वर का अनुग्रह होने पर ही अधिकारी पुरुष गुरुसेवा और शास्त्राभ्यास में यत्नशील हो सकते हैं और फलस्वरूप ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते हैं। धनसम्पति या सुखभोग के लिए अभीष्ट साधनप्राप्ति ईश्वर-कृपा की वास्तविक परिचायक नहीं है। केवल सद्गुरु की प्राप्ति ही ईश्वर का साक्षात् अनुग्रह समझना चाहिए। श्रीगुरु का दर्शन, उन पर पूर्ण भक्ति, उनकी प्रसन्नताप्राप्ति और परिणामस्वरूप अन्तःकरण की व्याकुलता का नाश—ये सभी शास्त्र में ईश्वर के सार्थक अनुग्रह बतलाये गये हैं। अन्तःकरण की शीतलता महावाक्यलब्ध अपरोक्ष ज्ञान का अवश्यम्भावी फल है। सद्गुरु के श्रीमुख से 'तत्वमसि' रूप महावाक्य का श्रवण होने पर जगद्विषयक अज्ञान और तज्जन्य कल्पनाजाल अत्यन्त निवृत हो जाता है। यही 'अन्तःकरण की शीतलता'

कही जाती है। महावाक्य सूत्रस्थानीय हैं और वाशिष्ठ आदि वेदान्त-शास्त्र वृत्तिस्थानीय। अर्थात् ज्ञानशास्त्र महावाक्यों के टीकास्वरूप हैं, इसलिए महावाक्य का श्रवण ईश्वर के अनुग्रह बिना कदापि सम्भव नहीं है। ईश्वर तो जीव का अन्तरात्मा हैं। दृष्टि जब अन्तर्मुख होती है. तब बुद्धि के प्रकाशक रूप में, यह प्रत्यगात्मा जो मुख्य गुरु है, अनुभूत होता है। निर्मल अन्तःकरण में प्रत्यगभिन्न परमात्मस्वरूप का यह प्राकट्य या प्रसन्नता ही ईश्वर का साक्षात् अनुग्रह है। इसके फल-स्वरूप जीव और ईश्वर का ऐक्यज्ञान दृढ़ होता है। सत्सङ्ग और सच्छास्त्र इसका एकमात्र साधन है।

अब गुरुसेवा तथा सत्सङ्ग से क्या प्राप्त होता है, यह बतलाया जाता है—

महानुभावसम्पर्कात् संसारार्णवलङ्घने।
युक्तिः सम्प्राप्यते राम दृढा नौरिव नाविकात् ॥४॥

ब्रह्मज्ञानी गुरु की सेवा और सङ्ग से संसारोत्तरण का उपाय प्राप्त होता है। यह कैसे ? जैसे नाविक के पास से समुद्र पार होने के उपयुक्त दृढ़ नौका प्राप्त होती है। गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अव-लम्बन करने से राग-द्वेष-सङ्कुल संसार का उल्लङ्घन किया जा सकता है।

संसारदीर्घरोगस्य सुविचारमहौषधम्।
कोऽहं कस्य च संसारो विवेकेन विलीयते ॥५॥

'मैं कौन हूँ', संसार किसका है' इसकी मीमांसा या निर्णयरूप विचार संसाररूप दीर्घरोग का उत्कृष्ट औषध है, क्योंकि विवेक से ही संसार नष्ट हो जाता है। जैसे औषन सेवन से रोग निवृत्त होता है, वैसे विचार के फलस्वरूप संसार का अभाव हो जाता है। विवेक से ही विचार प्राप्त होता है। आत्मा और अनात्मा का स्वरूप पृथक्रूप से जाने बिना संसार का अभाव और निश्चयपूर्वक आत्मस्वरूप का ज्ञान याने 'मैं देहादि से भिन्न हूँ, बुद्धि के आविर्भाव-तिरोभाव का साक्षात्

ज्ञाता, असङ्ग, स्वप्रकाश सुखस्वरूप चैतन्यमात्र हूँ' ऐसा जानना सम्भव नहीं है। अपने आपका सम्यकरूप से न जानना ही संसार का एकमात्र कारण है, इसलिए अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान (आत्माकार वृत्ति या विचार) ही संसार की आत्यन्तिक निवृत्ति का हेतु सिद्ध होता है। वह सद्गुरु तथा सच्छास्त्र से प्राप्त होता है।

यस्मिन् देशे हि तत्त्वज्ञो नास्ति सज्जनपादपः ।
सफल शीतलच्छायो न तत्र दिवसं वसेत् ।६॥

जिस देश में सत्पुरुष (ब्रह्मज्ञानी) रूप वृक्ष विद्यमान नहीं है, वहाँ मुमुक्षुजनों को एक दिन भी निवास नहीं करना चाहिए। उस सज्जन वृक्ष का स्वरूप क्या है? जिन्होंने विवेक का अवलम्बन करके ईश्वर तथा जीव को (तत् और त्वं इन दोनों पदार्थों को) एकरस शुद्ध चैतन्य रूप में जान लिया है। जो मनुष्य जीव तथा ईश्वर को भिन्न-भिन्न जानता है; वह जीव और ईश्वर को सम्यक् रूप में नहीं जानता। वह तत्त्वज्ञानी नहीं है। जीव एवं ईश्वर का यथार्थ स्वरूप ब्रह्म है। जिन्होंने ब्रह्म को जाना है, वे ही तत्त्वज्ञ हैं। तत्वज्ञरूप वृक्ष पुनः कैसा है? उसके पास ब्रह्मज्ञान का उपाय विद्यमान है और उसकी छाया तथा कान्ति आनन्द प्रदान करती है। ऐसा फलों एवं घनच्छाया से युक्त तत्वज्ञानीरूप वृक्ष जिस देश में न हो, वहाँ एक दिन के लिए भी निवास करना उचित नहीं है।

सदा सन्तोऽभिगन्तव्या यद्यप्युपदिशन्ति न ।
या हि स्वरकथास्तेषामुपदेशा भवन्ति ताः ॥७।

सत्पुरुष यदि उपदेश न करें, तो भी मुमुक्षुजनों की उनकी सेवा करनी चाहिए, क्योंकि स्वेच्छापूर्वक वे जो कुछ भी बोलते हैं, वही उपदेशतुल्य है। कारण वे ब्रह्मवार्ता में ही अपना समय व्यतीत करते हैं।

शून्यमापूर्णतामेति मृत्युरप्यमृतायते ।
आपत् सम्पदिवाभाति विद्वज्जनसमागमात् ॥८।

सत्पुरुष के सङ्ग से शून्य भी पूर्णभाव को प्राप्त होता है, रिक्तता में भी सुख का अनुभव होता है। क्योंकि ब्रह्म में शून्य, मरण, दुःखादि कुछ भी नहीं है। आत्मज्ञानहीन मनुष्य को संसार में कुछ भी प्राप्त नहीं होता। आत्मज्ञान के बिना दशों दिशाएँ शून्य प्रतीत होती हैं, देह, इन्द्रिय अन्तःकरण सब कुछ रिक्त (निष्फल) हो जाता है। देश, ग्राम, चन्द्र, सूर्य और समस्त विश्व—अनात्म होने से शून्य अनुभूत होते हैं। तीर्थ, क्षेत्र, देवता, कर्मानुष्ठान आदि सब व्यर्थ प्रतीत होते हैं। किन्तु यदि सत्समागम प्राप्त हो, तो उक्त क्रम के विपरीत ही अनुभव होने लगता है। जो पहले शून्य भासित होता था, वह एक क्षण में परिपूर्ण समझ में आने लगता है, सम्पूर्ण प्रपञ्च ब्रह्मरूप में प्रतिभात होता है। अर्थात् सत्सङ्ग प्राप्त मुमुक्षुओं को अनुभव होता है कि सर्वत्र आत्मा ही विराजमान है, अन्य कुछ भी नहीं। इस प्रकार साधु-समागम से आत्मा की पुनः प्राप्ति होने पर ज्ञान के प्रभाव से बुद्धि, इन्द्रिय आदि को ब्रह्म के अतिरिक्त पदार्थों का ज्ञान विलुप्त ही हो जाता है। इस प्रबोधदशा में मृत्यु भी आ जाय, तो वह भी परिपूर्ण मुक्तिसुख के समान है। तात्पर्य यह कि विद्वत्पुरुष के समागम से परम वैराग्य और ज्ञान उत्पन्न होता है, योगसाधन और समाधि भी साधुसङ्ग से ही प्राप्त होते हैं।

ज्ञानिनामपि चित्तं चेत् केवलात्मसुखोदितम।
सत्वाः संसारदुःखार्ताः कं यान्ति शरणं तदा। ९॥

ज्ञानीजन सर्वथा दीन और शरणागत अधिकारी को देखकर अवश्य ही सुखसाधन का उपदेश करते हैं। ब्रह्मवेत्ता पुरुष यदि अपने सुखानुभव में ही केवल मग्न रहें, तो संसारदुःख से पीड़ित जीव दुःखनिवृत्ति के लिए किसकी शरण जायँ? इसीलिए आत्मदर्शी पुरुष परोपकार में स्वाभाविक रूप से रत रहते है।

तज्ज्ञानं स च शास्त्रार्थस्तद्विज्ञानमखण्डितम्।
सच्छिष्याय विरक्ताय साधोर्यदुपदिश्यते। १०॥

अर्थात् वही ज्ञान, वही शास्त्र का तात्पर्य (निष्कृष्ट अर्थ) और वही यथार्थपूर्ण अनुभव (अपरोक्ष अनुभूति) है जिसका सद्गुरु वैराग्ययुक्त उत्तम शिष्य को उपदेश करते हैं। निष्काम या ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठित कर्म और भगवदुपासना से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। निष्काम कर्म से 'अहं' और 'मम' बुद्धि का अस्फुरण होते-होते चित्त अन्तर्मुख हो जाता है और निष्काम उपासना की सहायता से भगवदभिमुख होने पर चित्त का आभ्यन्तर विकार या चाञ्चल्य मिट जाता है। अन्तरात्मा के आकार से आकारित और एकाग्र निश्चल-भाव से स्थित) बुद्धि दर्पण के समान स्वच्छ हो जाती है। इस प्रकार जिसे निर्मल अन्तःकरण प्राप्त हुआ है, वेदान्तशास्त्रानुसार वही सच्छिष्य है।

निष्काम कर्मानुष्ठान से वासना का उद्भव रुक जाता है, क्योंकि शास्त्रविहित, स्वाभाविक प्रवृत्ति या संस्कारजन्य कर्मों के सम्पादन में 'मैं' या 'मेरा' ऐसी किसी भावना (चिन्ता) को स्थान प्राप्त नहीं होता। इससे वासना या इच्छा उत्पन्न नहीं हो पाती। बुद्धि स्वयं प्रत्यगात्मा में सुखपूर्वक स्थित होती हैं। फिर एकाग्रता के (भगवद्भक्ति के) अभ्यास से बुद्धि निर्विकार रूप में अवस्थित हो जाती है। इस अवस्था में अधिकारी पुरुष की कथा-वार्ता, देखना-सुनना आदि शरीर-इन्द्रियों के स्वाभाविक स्पन्दन या चेष्टाएँ शुद्ध हो जाती हैं। मन में कभी भी कुटिलता स्थान नहीं पाती और इन्द्रियाँ सरलता से प्रवृत्त होती हैं। इस प्रकार सच्छिष्यका स्वभाव जल के स्वभाव की तरह हो जाता है। प्रवाह को जिधर, जिस तरह और जब ले जाना होता है, जल वैसे ही जाता है। उसमें जल का कोई आग्रह नहीं होता। इसी प्रकार शुद्धान्तः करण उत्तम शिष्य का भी किसी विषय में आग्रह नहीं रहता। उसके हृदय में सर्वदा शुभेच्छा विद्यमान रहती है, सच्छास्त्र के श्रवण में पूर्ण प्रीति होती है, ईश्वर में अभेदबुद्धिरूप (ज्ञानलक्षणा) उत्कृष्ट भक्ति विराजमान होती है, मनमें पापवासना की (बुद्धिपूर्वक) उत्पत्ति नहीं होती, निर्जन स्थान में रहने की

स्वाभाविक रुचि होती है, मन उदार हो जाता है और गीतोक्त सम्पूर्ण देवी-सम्पत्तियों का आविर्भाव होता है। इस प्रकार सच्छिष्य ही वेदान्तशास्त्र का पूर्ण अधिकारी है।

उपदेशक्रमो राम व्यवस्थामात्रपालनम्।
ज्ञप्तेस्तु कारणं शुद्धा शिष्यप्रज्ञैव केवला॥ ११॥

गुरु का उपदेशरूप क्रम मर्यादा (सदाचार, नियम) का पालन-मात्र है। 'प्रत्यक्ष अनुभूयमान आत्मा ब्रह्म है' इस महावाक्यार्थ का उपदेश केवल शिष्य की प्रज्ञा 'अभ्याससहकृत ब्रह्माकार अन्तःकरण-वृत्ति) से दृढ़ रूप में उपलब्ध होता है, उसका अन्य उपाय नहीं है। गुरु-उपदेश के श्रवण, मनन और निदिध्यासन के फलस्वरूप शिष्य की बुद्धि अत्यन्त शुद्ध होती है। ब्रह्म और आत्मा का ऐक्यज्ञान ऐसी शुद्ध बुद्धि में स्वयं प्रत्यक्ष होता है। पहले ही बतलाया जा चुका है कि स्वयंप्रकाश आत्मब्रह्म का प्रत्यक्ष अनुभव अपने आप में ही (ब्रह्माकार में अत्यन्त आकारित बुद्धि में ही) होता है। श्रवण-मनन की सहायता से बुद्धि की शुद्धता या सूक्ष्मता सिद्ध होती है। अतएव गुरु का उपदेश आवश्यक है। शुद्धबुद्धि पुरुष (अर्थात् वेदान्त का अधिकारी) किस प्रकार व्यवहार करता है और उसे सच्छास्त्र-श्रवणादि में कैसे स्वाभाविक रति उत्पन्न होती है, यह पहले बतलाया जा चुका है। मुमुक्षुओं के पूर्व-संस्कार ही इसके कारण हैं। अवएव गीता में बतलाया गया है कि मनुष्य स्वयं ही अपना बन्धु है; अन्य कोई नहीं, क्योंकि ईश्वर कृपा से सद्बुद्धि (विवेकादि साधनचतुष्टय) अपने शास्त्रीय प्रयत्नों के फलस्वरूप ही उदित होती है। इस प्रकार आत्मा के स्वयम्प्रकाशरूप होने पर भी गुरुपदिष्ट बोधजन्य अत्यन्त शुद्धबुद्धि का उदय हुए बिना हृदय में आत्मा की प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती। आत्मसाक्षात्कार (अपरोक्षज्ञान) उत्पन्न होने पर ही अपना स्वरूप प्रत्यक्ष भासमान होता है। फिर संशय, असम्भावना या विपरीत भावना कुछ भी नहीं रह जाती। गुरु के उपदेश से संशय आदि समस्त प्रतिबन्धकों का निरसन हो जाता है फलतः अत्यन्त शुद्ध बुद्धि (दृढ़

ब्रह्माकार वृत्ति या प्रज्ञा) का उदय होने पर अज्ञान नष्ट हो जाता है और स्वयम्प्रकाश आत्मा हृदय में 'सकृद्विभात' हो जाता है। इस प्रकार आत्मा एकबार विशेषरूप से प्रकाशमान (साक्षात्कृत) होने पर पुनः अप्रकाशित नहीं हो सकता। अतएव प्रज्ञा ही आत्मदर्शन का साक्षात् एवं अवश्यम्भावी हेतु है। शिष्य को इस प्रकृष्ट ज्ञान का उदय न हुआ, तो गुरु का उपदेश निरर्थक हो जाता है।

अब यहाँ यह बतलाया जाता है कि शिष्य की प्रज्ञा ही साक्षात्कार का एकमात्र कारण है —

न शास्त्रैर्नापि गुरुणा दृश्यते परमेश्वरः।
दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया सत्वस्थया धिया ॥ १२ ॥

गुरु और शास्त्र द्वारा आत्म साक्षात्कृत नहीं होता। बुद्धि के अत्यन्त सात्त्विक परिणाम के फलस्वरूप ही अतिशुद्ध अपनी बुद्धि द्वारा ही आत्मभगवान् का दर्शन होता है। अर्थात् मनन और ध्यानरूप विचार के फलस्वरूप ही आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। शास्त्र और गुरु, बुद्धि के रज और तमोरूप मलों का अपसरण कर देते हैं और इससे बुद्धि अत्यन्त सात्त्विकभाव को प्राप्त (मार्जित) हो जाती है। ऐसी मार्जित बुद्धि (सत्त्वगुणस्थित अपनी बुद्धि) ही आत्मसाक्षात्कार का कारण है। अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि का उदय हुए बिना अपना आत्मस्वरूप सम्यक् रीति से नहीं जाना जा सकता। गुरु और शास्त्र बुद्धि को निर्मल कर देते हैं। बुद्धि के अत्यन्त शुद्ध (विषयचिन्तन आदि समस्त दोषों से विनिर्मुक्त) होने पर हृदयदर्पण में आत्मस्वरूप स्वयं स्पष्ट भासमान हो उठता है। आजकल वेदान्तशास्त्र का परोक्षज्ञान होने पर भी अनेक स्थलों में जो आत्मविषयक दृढ़ प्रत्यक्षज्ञान (आत्मसन्तोष या तृप्ति) नहीं दिखाई पड़ता, इसका एकमात्र कारण सूक्ष्म विषय-वासनारूप बुद्धि की कलुषता है। यह सत्सङ्ग और सच्छास्त्र के श्रवण, मनन, विषयदोष-दर्शन, स्वरूपचिन्तन आदि के अभ्यास से निवृत्त होती है। गुरु और शास्त्र की प्राप्ति ईश्वरानुग्रह

का उत्कृष्ट फल है। इस प्रकार (१) भगवद्भक्ति, (२) सत्सङ्ग और सच्छास्त्रलाभ, (३) शास्त्राभ्यास के फलस्वरूप शुद्ध बुद्धि का उदय और (४) अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि में भगवान आत्मदेव का प्रकाश—यही परमार्थप्राप्ति का अव्यभिचारी क्रम है। इस पौर्वापर्य की उपेक्षा से उत्तरोत्तर भूमिका की प्राप्ति सम्भव नहीं होती और साधक नि.सीम निजानन्द से वञ्चित रह जाता है।

सर्वा बहिःकला जन्तोरनभ्यासेन नश्यति।
इयं ज्ञानकला राम सकृज्जाताऽभिवर्धते ॥ १३ ॥

अध्ययन आदि सब बाह्य विद्याएँ अनभ्यास से नष्ट हो जाती है, किन्तु आत्मज्ञान का यदि लेश भी उत्पन्न हो, तो वह क्रमशः बढ़ने लगता है, नष्ट नहीं हो सकता। जैसे चित्तशुद्धि के हेतुभूत गीतोक्त निष्काम धर्म का लेश भी भगवन्नियतिनिर्दिष्ट अनुकूल संस्कारोत्पत्तिका अवश्यम्भावी हेतु होता है और स्वल्प भी दीपकलिका विपुल अन्धकार को नष्ट कर देती है, वैसे ही स्वल्प भी आत्मज्ञान अनेक गुणित अविद्याओं आत्मा के आवरणों) का नाश करता है। अनात्मविषयों का जितना जितना निरसन होता जाता है उतनी-उतनी बुद्धि आत्मप्रकाश से उद्भासित होती जाती है। इससे बुद्धि में आत्मविषयक संस्कार उत्पन्न एवं उत्तरोत्तर उपचित होता है। मैं और परिदृश्यमान अखिल प्रपञ्च एकमात्र अद्वितीय स्वप्रकाश सुखस्वरूप आत्मा है, अन्य कुछ भी नहीं ऐसी भावना या वासना हृदय में बद्धमूल होने लगती है। यही अनुकूल संस्कार है। परिणामतः धीरे-धीरे देहादि समस्त विषयों में दोषदृष्टि और विरसबुद्धि (वैराग्य) स्वभावतः दृढ़ हो जाती है। विषय तथा परिच्छिन्न अहम्भाव के परित्याग से वह अपने को एवं सकल दृश्यवर्ग को सहजरूप में आत्मा ही जान लेता है। अनात्मभाव निःशेषरूप से विगलित हो जाता है। एकबार भी प्रकाशशील आत्मा के साथ बुद्धिका अभेदनिश्चय (अदृढ़ अपरोक्षज्ञान) उत्पन्न होने पर वह नष्ट नहीं होता। संस्काररूप से चित्त में विद्यमान

रहता और जन्मान्तर में पुनः उद्भूत और क्रमशः परिपक्व होकर मोक्षसुख प्रदान करता है। यही तीसरी ज्ञानभूमिका या गीतोक्त योग-भ्रष्ट की भूमिका है। प्रकाशमान आत्मा (या आत्मज्ञान स्वतः और सर्वदा सिद्ध होने पर भी-इसीलिए आत्मज्ञान के लिए यत्न आवश्यक न होने पर भी —अनात्मविषयों के निरसन में निरन्तर प्रयत्न नितान्त प्रयोजनीय है; क्योंकि उसके बिना क्रमशः लय, विक्षेप, कषाय रसास्वाद के बन्द न होने से चित्त ब्रह्माकार में आकारित न हो सकेगा। अर्थात् (सकलवृत्तिसहित) बुद्धिरूप लवणपिण्ड ब्रह्मसमुद्र में विलीन न होगा और परिणामस्वरूप स्वप्रकाश आत्मदेव हृदय में अखण्डरूप में अभिव्यक्त न होगा। अतएव वैराग्य ही आत्मदर्शन का कारण होता है। गीता में इसी वैराग्य का प्रतिपादन 'त्याग' और 'संन्यास' नामों से किया गया है। आत्मज्ञान के एक बार उदित हो जाने पर उपर्युक्त प्रकार से क्रमशः उसकी अभिवृद्धि होती है।

स्वकण्ठेऽपि स्थितं वस्तु यथा न प्राप्यते भ्रमात्।
भ्रमान्ते प्राप्यते तद्वदात्मापि गुरुवाक्यतः ॥ १४ ॥

जैसे अपने गले में विद्यमान होने पर भी मणि आदि वस्तुएँ भ्रम-वशात् नहीं पायी जाती— विद्यमान पदार्थ भी जैसे मानो खो गया हो, ऐसा प्रतीत होता है और भ्रम के नष्ट होने पर पुनः प्राप्त होता है, ठीक वैसे ही आत्मा भी निजस्वरूप होने से सर्वदा विद्यमान रहने पर भी गुरुकर्तृक उपदिष्ट 'तत्त्वमसि' रूप महावाक्य का विचार होते ही पुनः प्राप्त हो जाता है, विचार के बिना किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं होता। इसीलिए गुरु की शरण जाना अवश्यकर्त्तव्य है।

स्वस्वरूपमजानन् वै जनोऽयं देववर्जितः।
विषयेषु सुखं वेत्ति पश्चात् पाके विषान्नवत् ॥ १५॥

अज्ञानी मनुष्य अपना यथार्थस्वरूप बिना जाने विषयों में सुख का अनुभव करता रहता है, इसलिए वह अभागा है। विषमिश्रित अन्न

खाने से जैसे प्राणी की अवश्यमेव हानि होती है, वैसे ही उक्त भाग्य-हीन मनुष्य भी परिणाम में दुःख ही पाता है सुख नहीं।

इस प्रकार आत्मज्ञान के अभिमुखकर दृढ़ वैराग्य उत्पन्न कराने के लिए भगवान् वशिष्ठजी कहते हैं

बुद्ध्वाऽप्यत्यन्तवैरस्यं यः पदार्थेषु दुर्मतिः।
बध्नाति भावनां भूयो नरो नासा स गर्दभः॥ १६॥

जो दुर्बुद्धि मनुष्य विषयों की निरसता जानकर भी पुनः उनमें अनुरक्त हो जाता है, वह केवल नामधारी ही मनुष्य है। विषयलम्पट होने के कारण वह अत्यन्त मूर्ख और गर्दभतुल्य है। सार और असार वस्तुओं के सम्बन्ध में विवेकज्ञान को दृढ़ न करने से मनुष्य मूर्ख ही रह जाता है, यथार्थ विवेकशील नहीं हो सकता। क्षणिक या मौखिक विवेक आभासमात्र है। सारासार विवेक बुद्धि ही मनुष्य का एकमात्र लक्षण है। जिसे यथार्थ विवेक नहीं, वह यथार्थ मनुष्य नहीं है। पशु में विवेक नहीं होता, अतः अविवेकी मनुष्य पशु के ही समान है। साधारण मनुष्य या शास्त्रज्ञ पुरुष भी यदि विवेकशून्य हो सार वस्तु को नहीं जानता या जानने की इच्छा नहीं करता, किन्तु असार देहादि विषयों में आसक्त रहता है या शास्त्रद्वारा आत्मा को सत् और जगत् को असत् जानकर भी भोग्य विषयों से प्रीति का परित्याग नहीं करता और परिच्छिन्न अहम्भाव के साक्षात् प्रकाशक निज आत्मा को परम प्रेम का आस्पद जान कर उसका अनुसंधान नहीं करता, तब उसे यथार्थ मनुष्य किस प्रकार कहा जा सकता है? जिस प्रकार पशु संस्कार से ही परिचालित होता है, तमःप्रधान होने से उसको स्पष्ट बोध नहीं होता उसी प्रकार मनुष्य भी यदि सत्कर्म और ईश्वर भक्ति की सहायता से बुद्धि का विकाससाधन करने में अक्षम होता है और मलिन संस्कार द्वारा चालित होता है, तो विवेक, वैराग्य एवं विचार से शून्य होने से आकार में मनुष्य होते हुए भी वह पशु-वृत्तियुक्त और पशुतुल्य है। ऐसा पशुतुल्य मनुष्य जन्म-मरणरूप संसार से मुक्त नहीं

हो सकता। अतः मोक्षोपयोगी मनुष्य-शरीर प्राप्त करके विवेक एवं वैराग्य का सम्पादन नितान्त कर्त्तव्य है। विवेकहीन एवं विचाररहित पशु की तरह पामर या विषयी रहकर कालयापन करना कथमपि उचित नहीं है। किन्तु आत्मानात्मविवेक, विषय-विरति और आत्म-विचार का अवलम्बन करके दुःखरूप संसार से मुक्ति प्राप्त करने के लिए दृढ़ प्रयत्न करना परमावश्यक है।

शास्त्रीय पुरुषकार से उत्तम संस्कार उत्पन्न होते हैं। उद्भ्रान्त से सांसारिक उन्नति दिखायी पड़ती है, तो भी उससे मनुष्य का कल्याण नहीं होता। परिणामस्वरूप विवेक, वैराग्य और विचार प्राप्त नहीं होता। अतएव आर्षशास्त्रों में भगवदाराधन बुद्धि से वर्णाश्रमोंचित कर्मोपासना का अनुष्ठान बतलाया गया है। ईश्वरसम्बन्धी नियतिशक्ति के प्रभाव से सफल ये कर्म और भक्ति उत्तरोत्तर उत्तम संस्कार उत्पन्न करते हैं। उद्यम या चेष्टा शास्त्रविहित होना आवश्यक ही है, अन्यथा सत्संस्कार उत्पन्न न हो सकेंगे। समस्त जगत् अलङ्घनीय ईश्वरशक्ति से सर्वथा नियन्त्रित रहने के कारण शास्त्रबहिर्भूत किसी प्रकार की कला या कौशल से वैयक्तिक या सामाजिक हित साधन नहीं हो सकता। साधनचतुष्टय या सम्पूर्ण दैवी-सम्पत् की प्राप्ति का एकमात्र उपाय ईश्वर की आराधना या यथोचित निष्काम कर्म और भक्ति का अनुष्ठान है--यह गीता और सप्तशतीस्त्रोत में बतलाया गया है। अतः वैराग्य की भी दृढ़ता ईश्वरभक्ति का अवश्यम्भावी और अव्यभिचारी फल है। 'सफल भक्ति' भी ईश्वरानुग्रह' का पर्यायमात्र शब्द है। भारतीय शिक्षा तथा संस्कृति का मूलमन्त्र इस प्रकार उत्तरोत्तर उत्तम संस्कारों का उत्पादन और अभिवृद्धि है। इसका पर्यवसान जीवन्मुक्ति सुख है। सनातन मोक्ष शास्त्र की यही सर्वश्रेष्ठ और अनुपम देन है।

बहुत से लोग कहा करते हैं कि 'यह जानते हैं कि संसार अनित्य या मिथ्या है और विषय विष की तरह हानिकर हैं, तथापि विषयेच्छा निवृत्त नहीं होती या असार संसार में आसक्ति कम नहीं होती। अनेक लोग यह भी कहते हैं कि 'जानता हूँ कि आत्मा ही सत्य है और

मैं आत्मा हूँ। फिर भी बार-बार अनात्म देहादि में आत्मबुद्धि हो जाती है और सांसारिक विषयों से ममता निवृत्त नहीं होती।' किन्तु इसका एकमात्र कारण ईप्सित विषय में बलवान् संस्कार का अभाव है। जिस विषय का संस्कार प्रबल होगा उसी ओर जीव स्वतः आकृष्ट होगा। वासनारूप नदी का प्रवाह ईश्वर और जगत् दोनों की ओर अभिमुख हुआ करता है यदि अभ्यास से ईश्वर की ओर का प्रवाह प्रबल होता है, तो जीव संस्कारवश भगवदभिमुख होगा। यदि संसारसम्बन्धी अभ्यास से जगत् की ओर का प्रवाह प्रबल होगा, तो जीव अवश होकर जगत् की ओर ही अभिमुख होगा। अतएव प्रबल पुरुष प्रयत्न-पूर्वक ईप्सित वस्तु की ओर मन का निरन्तर प्रवाह (अभ्यास) सम्पादन करना होगा। इस सम्बन्ध में गीता आदि अध्यात्मशास्त्रोक्त क्रम बारहवें श्लोक की व्याख्या में पहले बतलाया जा चुका है। भाष्यादि आकर-ग्रन्थों में इसका विस्तृत प्रतिपादन किया गया है।

यत्किञ्चदपि सङ्कल्पान्नरो दुःखे निमज्जति।
न किञ्चिदपि सङ्कल्पात् सुखमक्षयमश्नुते॥ ९७॥

किसी पदार्थ के सम्बन्ध में सङ्कल्प करके ('यह मुझे हो' ऐसी भावना करके) जीव दुःख में मग्न होता है। यदि हृदय में किसी भी विषय का स्फुरण न होने दिया जाय, तो अनायास ही अविनाशी आत्मसुख (मुक्तिरूप आनन्द) प्राप्त होता है, दुःख का लेश भी नहीं रह जाता। संकल्प या चित्त के दृढ़ (अध्यासकृत) स्फुरण का उपशम होनेपर स्वयं निजानन्द नित्य अनुभूत होता है। परिच्छिन्न अहंभाव और साक्षी आत्मा के ऐक्य भ्रम की आत्मज्ञान द्वारा निवृत्ति होने पर अविद्या के विलास या वृत्ति के उदय में ज्ञानी के अन्तःकरण में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हो सकता। अध्यास ही बन्धन का मूल है। 'मैं अन्तःकरण तथा उसकी वृत्तियों का साक्षात् प्रकाशक हूँ, जाग्रत् और स्वप्न में अन्तःकरण को प्रकाशित करता हूँ और सुषुप्तिकाल में उसके अभाव को स्वयं जानता हूँ, इसलिए मैं अन्तःकरण से अत्यन्त

भिन्न, असङ्ग, निर्विकार निरहंकार, स्वप्रकाश, सुखस्वरूप आत्मा हूँ' इसे दृढ़ आत्मबोध का उदय होने पर सकल भ्रमों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। यही मुक्तिसुख है।

यथा स्वप्ने मुहूर्ते स्यात् संवत्सरशतभ्रमः।
तथा मायाविलासोऽयं जायते जाग्रति भ्रमः ॥१८॥

जिस प्रकार स्वप्न में एक मुहूर्त में सौ वर्षों का अनुभव भ्रम से हो जाता है, उसी प्रकार जाग्रत् में अनुभूत यह संसार प्रपञ्च भी माया का विलास मात्र है। मरुभूमि में दिखाई पड़ने वाला जल मिथ्या ही है; जरा भी सत्य नहीं। जो परमार्थिक सत्य है, वही नितान्त सत्य है। जो व्यावहारिक सत्य है वह भी केवल अज्ञान दशा में ही प्रतिभासित होता है और जैसे प्रतिभासित प्रपञ्च प्रतिभासकाल में भी मिथ्या है, वैसे ही संसार सर्वदा और सर्वथा मिथ्या है। जीव, जगत् और ईश्वर—जो सच्चिदसुखरूप एक परमार्थ वस्तु का नामान्तरमात्र है—उससे अल्प और भिन्न नहीं। जैसे स्वाप्निक प्रपञ्च मिथ्या है, वैसे जाग्रत् संसार भी मिथ्या ही है। स्वप्न और जाग्रत में वास्तविक कोई भेद नहीं है, दोनों ही मिथ्या है। सुषुप्ति (आवृत आत्मा का स्फुरण-काल) भी कल्पित अवस्था है, जाग्रत् और स्वप्न में उसका व्यतिरेक देखा जाता है, अतः वह मिथ्या है। समाधि (निरावरण आत्मा के स्फुरणका काल) सम्यक् आत्मदर्शन का हेतु है और तुरीय (चतुर्थ) भी उत्कृष्ट अवस्था होने पर भी आत्मा में कल्पितमात्र है। अपरोक्ष ज्ञान का उदय होने पर वह भी निवृत्त हो जाती है। केवल पारमार्थिक सत्य आत्मवस्तु अवशिष्ट रह जाती है।

योऽन्तःशीतलया बुद्ध्या रागदेषविमुक्तया।
साक्षिवत् पश्यतीदं हि जीवितं तस्य शोभते ॥ १९ ॥

जो उत्तम पुरुष राग-द्वेषरहित, अतएव अकृत्रिम सुखपूर्ण बुद्धि से निर्विकार एवं निरहंकार होकर जगतिक दृश्यों का अवलोकन करते हैं,

उन्हीं का जीवन शोभित होता है। अर्थात् विषय सुख में आसक्तिरूप राग और दुःखहेतु पदार्थ में अप्रीतिरूप द्वेष के आत्यन्तिक परित्याग में मुक्तिसुख स्वयं अनुभूत होता है।

येन सम्यक् परिज्ञातं हेयोपादेयमुज्झता।
चित्तस्यान्ते स्थितं चित्तं जीवितं तस्य शोभते॥ २०॥

'यह मेरे ग्रहण करने योग्य है, यह त्याज्य है' ऐसा सङ्कल्प (अन्तःकरण का दृढ़ निश्चय) छोड़कर जिन्होंने पूर्वोक्त (मुमुक्षा) बुद्धि में प्रतिफलित प्रत्यक् ब्रह्म को साक्षात् जान लिया है, उन्हीं का जीवन सफल होता है। आत्मदर्शन के फलस्वरूप अन्तकरण के साथ आत्मा के ऐक्याध्यास की निवृत्ति होने पर सब सङ्कल्प उपशान्त हो जाते हैं, क्योंकि संकल्प अन्तकरण का धर्म है तथा अन्तःकरण से सर्वथा भिन्न और अन्तःकरण के केवल प्रकाशकरूप में स्थित आत्मा अन्तःकरण के विकारों से सर्वथा अस्पृष्ट रहता है। अशेषवृत्तिसहित अन्तःकरण का निरोध प्रत्यगात्मा में विलय या अत्यन्त तन्मयरूप में अवस्थान) बिना हुए आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, यह पहले ही बतलाया जा चुका है। आत्मज्ञ पुरुष का ही जीवन सार्थक और सुखमय होता है। अतः सकल संकल्पों के उपशम के लिए सर्वदा प्रयत्न करना उचित है। अनात्मवासना का नाश होने पर निज निःसीम आत्मसुख का अनुभव सम्भव होता है।

अब बतलाया जा रहा है कि मरण के लिए शोक करना अनुचित है—

हृदयाकाशमात्रस्य विनाशो देहनाशतः।
व्यर्थं भूतानि शोचन्ति नष्ट आत्मेति शङ्कया॥ २१॥

देह के नष्ट होने पर हृदय से अवच्छिन्न आकाश का ही नाश होता है। अर्थात् आकाश का अवच्छेद (सीमा या एकदेशता) मात्र नष्ट

होता है। जैसे घटका नाश होने पर घटकृत आकाश का सीमित भाव (परिच्छेद) ही नष्ट हो जाता है—आकाश का नाश नहीं होता, वैसे ही शरीर नष्ट होने पर देह से आत्मा का सम्बन्धमात्र नष्ट होता है—आत्मा नष्ट नहीं होता। अतएव मूढ़ मनुष्य मैं (आत्मा) नष्ट हो गया' ऐसा मिथ्या ही शोक करता है। वास्तव में अपना (आत्मा) का) नाश किसी प्रकार सम्भव नहीं है।

यही कहा जा रहा है—

घटादिषु प्रणष्टेषु यथाकाशमखण्डितम् ।
तथा देहेषु नष्टेषु देही नित्यमलेपकः ॥ २२ ॥

घटादि पदार्थों के नष्ट होने पर भी जैसे आकाश अखण्डित ही रहता है, वैसे ही देह का नाश होने पर भी देही पुरुष (आत्मा) अलिप्त या देह के साथ सम्पर्करहित रहता है। अर्थात् देह का नाश होने से आत्मा (निजस्वरूप) की कुछ भी हानि नहीं होती।

न जायते म्रियते वा क्वचित् किञ्चित् कदाचन ।
जगद्विवर्तरूपेण केवलं ब्रह्म जृम्भते ॥२३॥

कहीं भी और कभी भी कुछ उत्पन्न नहीं होता और नष्ट भी नहीं होता; किन्तु ब्रह्म ही जगद्रूप में प्रकाशमान है। जैसे रज्जु में कभी भी सर्पादि नहीं, तथापि रज्जु में सर्प उत्पन्न होता और नष्ट होता है, वैसे ही यह दृश्यमान संसार भी भ्रम से प्रतीत होता है, और आत्मज्ञान का उदय होने पर नष्ट हो जाता है। यह जगत् किसी से उत्पन्न भी नहीं होता, किसी का विकार भी नहीं है, किन्तु निर्विकार अद्वितीय परमात्मा ही प्रपञ्चरूप में प्रकाशमान है। यही 'विवर्त्तवाद' कहा जाता है। जगत्सम्बन्धी दृढ़ वासना के फलस्वरूप ही जगत् दिखलायी पड़ता है। इस भेदवासना के मूल में भोगवासना विद्यमान रहती है। स्वरूप का दृढ़ ज्ञान उदित होने पर, अनात्मवासना

के सम्यक् अपचय से – जगत् सर्वथा लुप्त हो जाता है– 'प्रकाशमाने परमात्मभानौ नश्यत्यविद्यातिमिरे समस्ते। अहो बुधा निर्मलदृष्टऽयोपि किञ्चिन्न पश्यन्ति जगत् समग्रम् ॥' (योगतारावली, श्लो० २७ ।

आकाशादपि विस्तीर्णः शुद्धःसूक्ष्मोऽव्ययः शिवः।
अयमात्मा कथं राम जायते म्रियतेऽथवा ॥२४॥

हे राम ! ऐसी आत्मा किस प्रकार उत्पन्न या नष्ट हो सकती है ? आत्मा आकाश से भी व्यापक, निर्मल, निर्लेप, दुर्ज्ञेय अविनाशी और मंगलस्वरूप है। देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेद जिसमें नहीं है, जो सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदों से रहित वस्तु है, उसका जन्म और नाश किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। आकाश की उत्पत्ति है और विनाश भी है। आत्मा सर्वदा विद्यमान है, अतः उत्पत्तिरहित और अविनाशी है। अतएव आकाश से भी आत्मा व्यापक है। आत्मा माया या अविद्यारूप मलरहित देहादि जगत् से सकल सम्पर्कशून्य है। देह के न रहने पर भी आत्मा प्रलय के प्रकाशकरूप में अवशिष्ट रहता है, अन्यथा प्रलय की सिद्धि कौन करेगा ? वही प्रलय तथा समस्त प्रपञ्च की सत्ता और स्फूर्ति प्रदान करता है। 'मैं नहीं था', 'मैं न रहूँगा' ऐसी कोई इच्छा नहीं करता, क्योंकि अपना अभाव (स्वप्न तथा सुषुप्ति के समय) सामान्यरूप में भी अनुभूत नहीं होता। अनुभव का अभाव कभी भी नहीं हो सकता। आत्मा केवल शुद्ध बुद्धि से ही जाना जाता है–अन्तःकरण अत्यन्त राग द्वेषरहित और विवेक-विचार-युक्त हुए बिना निजस्वरूप का परिज्ञान सम्भव नहीं है। इसलिए आत्माको सूक्ष्म या दुर्विज्ञेय कहा गया है। अन्तःकरण के विशुद्ध होने पर आत्मस्वरूप स्वयं अनायास प्रकाशित हो उठता है। आत्मा सकल कल्याणों का आकार है। वह परमसुखस्वरूप है। आत्मा को बिना जाने जीव अशेष दुःखों का अनुभव करता रहता है। ईश्वर के अनुग्रह से आत्मा के एकबार हृदय में प्रकट हो जाने पर मुमुक्षु के समस्त दुःखों की निवृत्ति हो जाती और असीम सुख निरन्तर अनुभूत होने

लगता है। इसी का नाम 'मुक्ति' है। अनात्म वस्तु से जीव का यथार्थ कल्याण साधित नहीं होता, प्रत्युत विषयासक्ति ही सकल दुःखों का निदान और जन्म-मरणरूप संसार का मूल कारण सिद्ध होती है।

सर्वमेकमिदं शान्तमादिमध्यान्तवर्जितम्।
भावाभाविनिर्मुक्तमिति ज्ञात्वा सुखी भव ॥ २५ ॥

यह दृश्यमान समस्त जगत् आदि, मध्य और अन्तशून्य, भाव और अभाव से रहित शान्त ब्रह्म ही है - ऐसा जानकर सुखी हो जाओ। पहले तेइसवें श्लोक में बतलाया गया है कि जगत्, उत्पत्ति, वृद्धि और विनाशशून्य है, इसलिए ब्रह्म ही है। जगद्रूप में ब्रह्म ही दृष्टिगोचर हो रहा है। अपरिच्छिन्न होने के कारण ब्रह्म भाव और अभाव से रहित है - परिच्छिन्न सत्ता और उसका अभाव ब्रह्म नहीं है। ऐसे शान्त ब्रह्म के चिन्तन से हृदय में परिपूर्ण शान्तिसुख अनुभूत होता है। जगत् को नामरूपात्मक प्रपञ्चरूप में जानने से सृष्टि, स्थिति और प्रलयरूप विकार मानने से किसी भी प्रकार शान्ति नहीं मिल सकती। जिसे अज्ञानी जन जगत् कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्म है, क्योंकि जगत् जब उत्पन्न नहीं हुआ तब उसकी वृद्धि और विनाश भी सम्भव कहाँ ? समष्टि संकल्प या जगत्कल्पना का आविर्भाव-तिरोभाव देखा जाता है। उसका अधिष्ठान साक्षी ब्रह्मचैतन्य नित्य, सनातन और शान्तरूप में विराजमान है। जगत्बाध की स्वयंभात अवधिरूप में आत्मा अवशिष्ट रहता है। अतः जगत् ब्रह्म ही है। यह 'बाध-सामानाधिकरण्य' कहा जाता है।

वरं शरावहस्तस्य चाण्डालागारवीथिषु।
भिक्षार्थमटनं राम न मौर्ख्यहतजीवितम् ॥ २६ ॥

हे राम ! भिक्षापात्र हाथ में लेकर चाण्डाल-गृह में भिक्षा माँगना

भी अच्छा है, पर आत्मज्ञानरहित किसी प्रकार जीवन-यापन अच्छा नहीं। इसी का कारण बतलाते हुए कहते हैं—

न व्याधिर्न विषं नापत्तथान्यद्वापि भूतले।
दुःखाय स्वशरीरोत्थं मौर्ख्यमेतद्यथा नृणाम् ॥ २७ ॥

वात, पित्त और कफ की विषमता से उत्पन्न व्यथा, विष, आपत्ति या अन्य कुछ भी मनुष्य के लिए उतना दुःखदायी नहीं होता, जितना मनुष्य शरीर में उत्पन्न आत्मा-अनात्मा का विवेकज्ञानराहित्य या बहिर्मुखता। मनुष्य की मूर्खता ही एक मात्र दुःख का कारण है। अन्तर्मुख विवेकी पुरुष के सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। अनात्मविषयों को इष्टबुद्धि से ग्रहण करना और निज, नित्य, स्वप्रकाश सुखस्वरूप को न जानना ही अविवेक या मूर्खता है। सत्-चित्-सुखस्वरूप आत्मा को निजस्वरूप—परमोत्कृष्ट एवं निरवधि प्रेमास्पद-जानना और उसमें स्वतःलग्नचित्त होना और देहादि जगत् को मिथ्या जानकर उसमें दोषदर्शन करना और सर्वदा अनासक्त रहना ही विवेक या अन्तर्मुखता है। इसमें क्रमशः आत्माकार अन्तःकरणवृत्ति की दृढ़तापूर्वक आत्मदर्शन का उदय होता और जीव परमसुखस्वरूप में सर्वदा स्थित हो जाता है।

जगन्मिथ्यात्व : २ :

अब जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण किया जाता है। वैराग्य-निरूपण के उपरान्त जगन्मिथ्यात्व विषय का विचार किया जा रहा है। वैराग्य और जगत् के मिथ्यात्व का घनिष्ठ सम्बन्ध है। संसार की असत्यता निःसन्दिग्ध रूप में जान लेने पर वैराग्य दृढ़ हो जाता है। वैराग्य के बिना आत्मज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। आत्मज्ञान के बिना मनुष्य जीवन सर्वथा निष्फल है; क्योंकि जबतक मनुष्य नित्य-सुखरूप अपनी आत्मा को अच्छी तरह जान नहीं लेता, तबतक सब दुःखों का अवसान कभी भी सम्भव नहीं। छोटे-मोटे दुःखों की निवृत्ति होनेपर भी समस्त दुःखों के बीज अज्ञान के रह जानेपर अनन्त दुःख-परम्परा बनी ही रहेगी। आत्मा के जान लेनेपर ही सकल दुःखों की आत्यन्तिक निवृति होती है।

वेदान्तशास्त्र का सिद्धान्त यही है कि मन ही इस जगत् की उत्पत्ति और नाश का एकमात्र कारण है। मन के शान्त हो जानेपर संसारभ्रम नष्ट हो जाता है और मन का उदय होनेपर जगत् का उदय होता है। स्वप्न ही इसका अच्छा दृष्टान्त है। शय्या पर शयन करने पर शरीर अचलरूप से स्थिर रहता है, कोई भी अंग उस समय कोई क्रिया नहीं करता। फिर भी मन की चञ्चलता के कारण अनेक पदार्थ स्वप्न में दिखाई पड़ते हैं। आँखे बन्द रहनेपर भी हाथी, घोड़ा आदि अनेक वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती है। हाथ-पैर स्थिर रहने पर भी स्वप्न में इच्छानुसार गमनागमन और ग्रहण-त्याग होता है, परन्तु जागते ही वह सब कुछ नष्ट हो जाता है। ठीक इसी प्रकार ज्ञनदशा में भी जाग्रत् संसार मिथ्या हो जाता है। वशिष्ठजी कहते हैं--

संयमान्मनसः शान्तिमेति संसारसम्भ्रमः।
मन्दरेऽस्पन्दतां याते यथा क्षीरमाणवः॥ १॥

मन का नियमन होने पर याने मन का वेग या चञ्चलता के निरुद्ध

होनेपर संसारभ्रम वैसे ही नष्ट हो जाता है, जैसे मन्दराचल के निश्चल होनेपर क्षीरसमुद्र तरङ्गरहित और शान्त हो जाता है।

इसका कारण बतलाते हुए वशिष्ठ जी कहते हैं –

चित्तोन्मेषनिमेषाभ्यां संसारस्योदयक्षयौ।
वासनाप्राणसंरोधादनिमेषं मनः कुरु॥ २॥

मन से संकल्प का उदय होनेपर संसार उदित होता है, संकल्प विकल्प का अभाव होनेपर कोई भी आभ्यन्तर दृश्य पदार्थ भासित नहीं होता। अतएव वासना तथा प्राण का निरोध करके मनको संकल्परहित करना उचित ही है। साक्षीभास्य किसी विषय का स्फुरण बन्द करने के दो उपाय हैं-योग और ज्ञान। प्राणनिरोध, प्रत्याहार आदि योगाङ्गोंके अभ्यास से निर्विकल्प समाधि होने पर उसमें समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है। विवेक एवं विचार की सहायता से हृदय में प्रत्यग्ब्रह्म का सम्यक् प्रकाश होने पर भी समस्त प्रपञ्च का बाध हो जाता है।

योगतारावली' या 'भुशुण्डोपाख्यान' में बतलाये हुए प्राणायाम के अभ्यास से आत्मा में चित्त का समाधान सहज में हो जाता है। 'मैं कौन हूँ', 'जगत् क्या है ?' इसका विचार करने से भी मिथ्या जगत् के निरसन (जगद्वासना के त्याग) पूर्वक आत्माकार सम्यक् चित्तवृत्ति का उदय होता है। मन में जितना ही विषयों का चिन्तन होगा, उतना ही संसाररूप प्रपञ्च का उदय और आत्मस्वरूप का विस्मरण होगा। प्रपञ्च से मन जितना विमुख होगा, उतना ही संसार मिथ्या प्रतीत होने लगेगा और स्वस्वरूप का परिचय (अनुसन्धान) होता जाएगा। इसीलिए मनोजय के सम्पादनार्थ प्राण तथा वासना का निरोध अत्यन्त आवश्यक है। प्राण और वासना से मन अत्यन्त चञ्चल हो जाता है। प्राण के निश्चल होने पर संकल्पजाल नष्ट हो जाता है। फिर भी अकस्मात् प्रबल वासना का उदय होनेपर मन पुनः चञ्चल हो उठता है।

पूर्व कर्म तथा तज्जन्य चिन्ता के संस्कारों से अनेक पदार्थों का मन

में हठात् स्फुरण 'वासना' कही जाती है। मन के निश्चल होनेपर भी उसमें अकस्मात् घट-पटादि पदार्थों का आविर्भाव होता है और पूर्व-कालीन संस्कार वासनारूप में उदित होते हैं अथवा क्रोध-लोभादि मनोविकार प्रबल होकर मन को विचलित करते हैं और मन ईप्सित पदार्थों के आकार से आकारित हो जाता है। जिस पदार्थ का एकबार भी दर्शन, श्रवण या अनुभव होता है, संस्कारवशात् वह अवश्य स्मरण पथ में आ जाता है और अन्तःकरण में वासना रूप से दृढ़ता-पूर्वक स्थित हो जाता है। अतः मन को अच्छी प्रकार निश्चल करने के लिए प्राण तथा वासना दोनों का निरोध करना परमावश्यक है। इसके अतिरिक्त अन्य सब उपाय नितान्त व्यर्थ हो जाते हैं। मनोजय के दोनों उपायों में उत्तमाधिकारी के लिए ज्ञानोपाय ही श्रेष्ठ बतलाया गया है। योग का यथार्थ पर्यवसान भी ज्ञान में ही सिद्ध होता है। "यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानम्" इस गीतोक्ति का भी यही अभिप्राय है।

स्वस्वरूप का विस्मरण होनेपर मन बहिर्मुख हो जाता है और हृदय में विकल्प का उदय होता है। एवञ्च, दुःखदायी सांसारिक चिन्ता विस्तृत होती है। एक क्षण के लिए भी आत्मस्वरूप का विस्मरण होने से महान् अनिष्ट उत्पन्न होता है, यह वेदान्तशास्त्र का सिद्धान्त है। फलस्वरूप, प्रपञ्च में दृढ़ सत्यताबुद्धि आ जाती है और सम्यक् विचार से अखिल प्रपञ्च बाधित हो जाता है।

अयं हि स्वविकल्पोत्थः स्वविकल्पपरिक्षयात्।
क्षीयते दग्धसंसारो निःसार इत्यसंशयः ॥ ३ ॥

मन के संकल्प से उत्पन्न यह दृश्यमान संसार अपने संकल्पनाश के के साथ-साथ नष्ट हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। संकल्पलय का साक्षी निर्विकार सुखरूप आत्मा स्वयम्प्रकाशरूप से अवशिष्ट रहता है, यह अनुभव से ज्ञात होता है। अनुभव में संशय का अवसर नहीं रहता। संकल्पनाश के दो उपाय दूसरे श्लोक में बतलाये गये हैं।

प्रपञ्च का बाध स्वयं अनुभव होता है या नहीं – इसकी परीक्षा करके देखना हो तो योग या ज्ञान, किसी एक उपाय का अवलम्बन करना होगा। अन्यथा संकल्प का नाश (चित्तवृत्ति निरोध) न हो सकेगा, जगत् का अभाव भी प्रत्यक्ष न होगा। जगद्दर्शनरूप दृढ़ प्रत्यय का नाश अपरोक्ष आत्मज्ञान से ही सम्भव है, अन्यथा नहीं।

परिज्ञानेन सर्पत्वं चित्रसर्पस्य नश्यति।
यथा तथैव संसारः स्थित एवोपशाम्यति ॥ ४ ॥

चित्रलिखित सर्प को यह सर्प नहीं' है ऐसा प्रत्यक्षरूप से जान लेने पर जैसे सर्पभाव नष्ट हो जाता है और भय भी सर्वथा विलीन हो जाता है, वैसे ही अपने को और दृश्यमान जगत् को यथार्थरूप से जाना जा सके, तो 'मैं और प्रपञ्च सब कुछ मिथ्या है, सारभूत अधिष्ठान ब्रह्म ही एकमात्र सत्य वस्तु है' ऐसा दृढ़ निश्चय उत्पन्न होनेपर दृश्य-वर्ग का वस्तुतः अभाव हो जाता है। चित्र में सर्प के दिखाई पड़ते रहने पर भी जैसे उसमें सत्यताबुद्धि नितान्त नष्ट हो जाती है, वैसे ही दृष्टिगोचर होता हुआ भी संसार अवास्तविक (मिथ्या) हो जाता है।

'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' इस गीतोक्ति के अनुसार समस्त भौतिक प्रपञ्च सूक्ष्म पञ्चभूत से सत्यताबुद्धि सर्वथा निवृत्त हो जाती है। जैसे जागरण में स्वप्नप्रपञ्च का स्मरण भी कभी सम्भव होता है, फिर भी उसमें स्मरण कर्ता को अल्पमात्र भी सत्यताबुद्धि नहीं रह जाती, वैसे ही तत्त्वदर्शी पुरुष को जगत् का दर्शन होता रहने पर भी उसमें उसे अत्यन्त असद्बुधि होती है। 'इन्द्रियाँ रूप-रसादि का ग्रहण करती रहनेपर भी, चिदाभास जीव कर्ताभोक्तारूप में प्रतीत होता रहने पर भी, त्रिपुटि-साक्षी मैं असङ्ग, निर्विकार अपने चिदानन्दरूप में ही स्थित हूँ' ऐसा दृढ़ प्रत्यय आत्मवेत्ता को सर्वदा अक्षुण्ण रहता है। जैसे समीपस्थित पदार्थ का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़नेपर भी, दर्पण द्वारा उन सब प्रतिबिम्बों का ग्रहण करते रहने पर भी, दर्पण के निजी

स्वभाव में किसी प्रकार का व्यत्यय अन्तर) नहीं पड़ता, वैसे ही जागरण और स्वप्नदशा में व्यावहारिक अथवा प्रतिभासित प्रपञ्च के ग्रहण या त्याग में किंवा सुषुप्ति में प्रपञ्चसामान्य के अभाव-अनुभव में साक्षी आत्मा का कुछ भी आता-जाता नहीं, क्योंकि स्थूल या सूक्ष्म दृश्य पदार्थ का भाव एवं अभाव निज आत्मस्वरूप में सर्वथा कल्पित है। वे कभी भासित होते हैं, कूटस्थ कभी नष्ट हो जाते हैं। आत्मा सब भाव-अभावों का साक्षात् प्रकाशक और भावाभाव विवर्जित है।

समाधि में प्रपञ्च दर्शन नहीं होता, जाग्रत में इन्द्रियादिकों का व्यापार होते रहनेपर पदार्थों का दर्शन होता है। परन्तु सभी अवस्थाओं में साक्षी आत्मा अपने निर्विकार रूप में—असङ्ग, एकरस स्वभाव में ही स्थित रहता है। समाधि और व्यवहार सभी अवस्थाएँ मनःकृत एव मायिक होने से आत्मचैतन्य में केवल कल्पित हैं। प्रपञ्चदर्शन में आत्मा की वस्तुतः कुछ भी हानि नहीं होती। अदर्शन (समाधिकाल) में भी कोई लाभ नहीं होता। आत्मा सर्वदा अपने सनातन स्वरूप में ही स्थित रहता है। "उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते" यह आत्मवित् गुणातीत पुरुष का लक्षण है।

पुंसो निजमनोमोहकल्पितो दुःखदः स्मृतः।
संसारचिरवेतालो विचारेण विलीयते ॥ ५ ॥

अपने मन के मोह (अज्ञान) से रचित संसाररूप प्राचीन वेताल तत्त्वविचार से ही नष्ट होता है। अतः दुःखदायी इस प्रेत को विचाररूप मन्त्र की सहायता से दूर करना उचित है। निर्मल निर्वासनिक मन में जबतक 'मैं कौन हूँ', जगत् क्या है ?' ऐसा विचार उत्पन्न नहीं होता, तबतक सन मोहयुक्त रहता है। 'मैं' रूप प्रत्यक्ष अनुभूयमान वस्तु परमानन्द ब्रह्म है। परिच्छिन्न अहम्भाव (सुखी-दुःखीरूप जीव-भाव) और जगत् (नाना प्रकार का प्रपञ्च) स्फुरणशील मन के विकार मात्र हैं और इसीलिए सर्वथा असत्य है" ऐसा दृढ़ विचार

उत्पन्न होने पर मन का अज्ञान (यह देहादिविशिष्ट 'मैं' और दृश्यमान संसार सत्य है, ऐसा निश्चय) तथा शरीरादि में आस्था सर्वथा नष्ट हो जाती है। जब तक 'अहं' और 'इदं' भाव में शोभनाध्यास होता है, तबतक राग-द्वेषादि समस्त दुःखों की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती। अतः अपने को और जागतिक पदार्थों को जानना चाहिए—'मैं ब्रह्म हूँ, नाम-रूप जगत् मिथ्या है, अतएव ब्रह्मभिन्न कुछ भी नहीं है या प्रकाशित नहीं होता' ऐसी चित्त की स्वाभाविक निश्चल एवं ब्रह्मभाव में स्थित या ब्रह्माकार चित्तवृत्ति का उत्थापन करना चाहिए। इसी से संसाररूप भयंकर वेताल बिनष्ट होगा और अपरिच्छिन्न ब्रह्मात्मभाव स्वयं प्रकाशित हो जायगा। अन्यथा संसार का आत्यन्तिक अभाव सम्भव न होगा।

वशिष्ठजी कहते हैं

ईदृशी राम मायेयं या स्वनाशेन हर्षदा।
न लक्ष्यते स्वभावोऽस्याः प्रेक्ष्यमाणैव नश्यति ॥ ६ ॥

हे राम माया का स्वभाव बड़ा विचित्र है। वह अपना नाश होने पर हर्ष का कारण होती है। अर्थात् विचार के फलस्वरूप माया के नष्ट होने पर ही पुरुष मुक्तिसुख का अनुभव करता है। जब तक माया-कार्य जगत् सरस प्रतीत होता है और निज परमानन्द आत्मस्वरूप अज्ञान से आवृत रहता है, तबतक जीव अनेक दुःख भोगता है। नष्ट माया आत्म-सुख का कारण होती है। विद्यमान-माया दुःख-परम्परा का अवश्यम्भावी हेतु होती है। तब क्या माया का स्वरूप निश्चतरूप से निर्वचन के योग्य है? नहीं, भावरूप माया का यही अद्भुत स्वभाव है, इसके स्वरूप का निर्धारण करना सम्भव नहीं है। सत्, असत् या सदसत् किसी भी रूप में माया का निर्वचन संभव नहीं है। दृढ़ विचार के प्रकाश में देखने पर माया नष्ट हो जाती है, इसलिए उसका स्वभाव जाना नहीं जा सकता।

अविचार दशा में माया विद्यमान के समान प्रतीत होती है—मायिक

जगत् में सत्यता एवं सरसता का ज्ञान होता है श्रुति और युक्ति की सहायता से माया प्रमाणरहित और अनिवर्चनीय सिद्ध होती है। ज्ञानदशा में (आत्मा के अनुभवकाल में) माया तुच्छ हो जाती है — सर्वथा रह ही नहीं जाती। अज्ञानी मनुष्य 'जगत् क्या है ?' इसका अनुसन्धान ही नहीं करता - किसी पदार्थ को देखकर भी उसके सम्बन्ध में आलोचना नहीं करता। जारा-सी खोज (विवेचन) आरम्भ करते ही दीख पड़ेगा कि माया का कार्य जगत् बड़े विलक्षण स्वभाव का (आश्चर्यजनक) है। उसके किसी पदार्थ के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी जाना नहीं जाता। किसी एक साधारण पदार्थ की आलोचना में अग्रसर होने पर देखा जायगा कि कुछ दूर चलते ही अन्त में उस विषय का स्वरूप निर्धारण असम्भव हो जाता है। उस समय 'मैं यह नहीं जानता' ऐसा कहना पड़ता है, यही साक्षीभास्य अज्ञान है। सुख, दुःख अज्ञान सभी साक्षीभास्य पदार्थ आत्मचैतन्य में कल्पित हैं, उनका स्वरूप मिथ्या है। भासक आत्मा ही एकमात्र सत्य एवं परिपूर्ण वस्तु है। दृढ़ विचार के परिणामस्वरूप जब आत्मा का अनुभव होता है। तभी माया का अत्यन्त अभाव सिद्ध हो जाता है, अर्थात् माया बाधित हो जाती है।

यहाँ मायिक जगत् की लौकिक, यौक्तिक और परमार्थिक-ये तीन प्रकार की दृष्टियाँ बतलायी गयी हैं। अज्ञ मनुष्य जगत् को सत्य देखता है, शास्त्रज्ञ पुरुष जगत् को अनिवर्चनीय बतलाता है और अन्त में किसी पदार्थ के स्वरूप निरूपण में असमर्थ हो जाता है, अर्थात् साक्षीभास्य अज्ञान में पहुँच जाता है। परोक्ष ज्ञान से आत्मा तथा अज्ञान का ऐक्याध्यास (अपृथग्भाव) निवृत्त नहीं होता। अपरोक्ष-साक्षात्कार का उदय होने पर मिथ्या अज्ञान (माया) पूर्णरूप से निवृत्त हो जाता है और निरावरण अधिष्ठान आत्मचैतन्य स्वयं प्रकाशित हो जाता है। विचार या परोक्ष ज्ञान के दृढ़ होने पर अपरोक्ष अनुभव का उदय होता है। वृत्तिपूर्वक (चित्तसहित) आत्मस्वरूप का

ज्ञान अज्ञानग्रन्थि का विनाश नहीं कर सकता, अपितु अज्ञान तथा साक्षी आत्मा के परस्पर अध्यास (अभेदभाव) का द्योतक हो जाता है। अत्यन्त निर्वासनिक चित्त वृत्तिरहित एवं आत्माकार में दृढ़ परिणत हो जाता है। उस समय चित्त और अविद्यारूप आवरण नष्ट हो जाते हैं, यही ज्ञानसमाधि है। 'श्रुति-प्रमाण से अज्ञान आदि आवरण सर्वथा असिद्ध हैं' ऐसा निश्चय होने पर वासना और चित्त का उद्भव नहीं हो सकता और सहज ही अखण्ड सुखरूप आत्मचैतन्य निज अद्वैतस्वभाव में प्रकाशमान होता है। प्रत्यग्रूप में प्रकाशित अद्वैत आत्मा ही 'अनुभव' (ज्ञान) नाम से कहा गया है, उसमें माया का लेश भी नहीं रहता। यथार्थ दर्शन या आत्मानुभव का उदय होने पर माया नितान्त नष्ट हो जाती है, इसीलिए वह मिथ्या है।

पूर्व श्लोक में माया की विचित्रता और मोहकारिता बतलायी गयी है। माया का ऐसा स्वभाव अज्ञजनों से अविदित है– 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते।" जलप्रवाह या अलातचक्र की तरह संसार अस्थायी और असत्य होने पर भी विवेकशून्य मनुष्य उसे नित्य एवं सत्य समझता है। सभी पदार्थ दृष्ट नष्टस्वभाव हैं, तो भी एक विनष्ट वस्तु के स्थान में वैसी ही अन्य वस्तु के उत्पन्न होने से पदार्थों की विनश्वरता साधारण बुद्धि में अच्छी तरह आरूढ़ नहीं होती, जिससे जगत् सनातन और सत्य मालूम पड़ता है। ज्ञानस्वरूप आत्मापर दृढ़ आच्छादन के कारण अज्ञ मनुष्य को प्रपञ्च में ऐसी सत्यताबुद्धि होती है।

अहो नु विचित्रा मायेयं तात विश्वविमोहिनी।
सर्वाङ्गप्रोतमप्यात्मा यथाऽऽत्मानं न पश्यति ॥ ७ ॥

हे राम ? यह बड़ा आश्चर्य है कि यह विचित्र माया सबको विमोहित कर लेती है। इससे मुग्ध होकर मनुष्य देहधारी सर्वाङ्ग में व्याप्त रहनेवाले भी चैतन्य आत्मा को जान नहीं पाता। सब जीवों की आत्मा

(यथार्थस्वरूप) स्वप्रकाश, निर्मल और निरञ्जन है। उसपर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशरूप पाँच प्रकार के देहविकारों का आरोप माया का कार्य हैं। यह माया समस्त विश्व को मोह में निक्षिप्त करती है—अपने यथार्थस्वरुप को आवृतकर (भुलाकर) मोह उत्पन्न करती है। माया का यह मोहक स्वभाव इतना विचित्र है कि यद्यपि आत्मा सब पदार्थों में सर्वदा वैसे ही व्याप्त रहता है, जैसे मणियों में सूत्र, तथापि यह अज्ञान आत्मा को ढँक देता है और साधारण मनुष्य के मन में विपरीत भान ('मैं कर्ता, भोक्ता, जन्म-मरण-विकारयुक्त, परिछिन्न जीवमात्र हूँ; निरहङ्कार, अखण्ड, असङ्ग, परमानन्दस्वरूप आत्मा नहीं; ऐसा दृढ़ भ्रम) उत्पन्न कर देता है। फलतः स्वस्वरूप नित्यज्ञान से च्युति और मायिक पदार्थों में सत्यत्व-बुद्धि हो जाती है।

"माया कोई वस्तु नहीं है, मिथ्या भ्रममात्र है। इसीलिए वृत्ति की सहायता के बिना स्वतः उसका अनुभव नहीं होता, स्वप्रकाश आत्मा ही अनुभवगोचर होता है। जिस समय किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती और मन सजग एवं निर्वासनिक रहता है, उस समय किसी द्वैत पदार्थ का भान नहीं होता। सुखस्वरूप आत्मा ही स्वयं भासमान हो जाता है। अतः दूसरा पदार्थ (माया, मन या मायिक प्रपञ्च) कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। सुतराम ये सभी मिथ्या हैं। श्रुति भी समस्त द्वैत पदार्थों का निषेध करती है। इसलिए आत्मा ही एकमात्र सत्य है, अन्य सब कुछ मिथ्या है" ऐसे विचार से उत्पन्न बोध (दृढ़ आत्माकारवृत्ति) का उदय होनेपर माया प्रत्यक्षरूप में विनष्ट हो जाती है। विचार के उत्पन्न हुए बिना अध्यासवशात् देहादि मायिक प्रपञ्च में अहन्ता, ममता रह जाती है और निज शुद्ध, चिदानन्दस्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो पाता। माया के नष्ट हो जानेपर ही स्वरूपानन्द का विशेष भान होता है, यह पहले भी बतलाया जा चुका है। सम्यक् विचार के बिना माया (स्वावरक अज्ञान) का नाश सम्भव नहीं है।

यदिदं दृश्यते किञ्चित् तन्नास्ति किमपि ध्रुवम् ।
यथा गन्धर्वनगरं यथा वारि मरुस्थले ॥ ८ ॥

यह दृश्यमान जगत्-प्रपञ्च जरा भी वास्तविक नहीं है, था भी नहीं और होगा भी नहीं। जैसे आकाश में नगर नहीं है, सूर्य-किरणों में जल किसी काल में भी नहीं है, वैसे ही ये सब पदार्थ दिखाई पड़ने पर भी सत्य नहीं है। बाहर-भीतर जो कुछ भी दिखाई पड़ता है सब मिथ्या है; क्योंकि वह वृत्ति द्वारा ग्राह्य होता है। शुद्ध अनुभव में द्वैत प्रतीत नहीं होता, इसीलिए विचार (आत्माकारवृत्ति) के उत्पन्न होनेपर प्रपञ्च विलुप्त हो जाता है। अतएव श्रुति एवं विद्वानों के अनुभव जगत् का निषेध करते हैं। प्रपञ्च का प्रत्यक्ष दर्शन वैसे ही भ्रान्त अनुभवमात्र है, जैसे आकाश में गन्धर्वनगर का दिखाई पड़ना या मारवाड़ में मृगतृष्णिका दिखाई पड़ना या स्वप्न में हाथी, घोड़े आदि का दृष्टिगोचर होना। लौकिक प्रत्यक्ष कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि बाद में उसका बाध देखा जाता है। वेदान्त-प्रमाण से अबाधित, सत्य आत्मा का परिचय तथा प्रत्यक्ष अनुभव होता है। ज्ञानीजन इस परमार्थ सत्य आत्मा का ही अनुभव और कथन करते हैं। श्रुति एवं विद्वान् पुरुषों का अनुभव जगन्मिथ्यात्व के प्रबल प्रमाण हैं।

इस विषय में युक्ति भी विद्यमान है, जगत् मिथ्या है, क्योंकि वृत्ति-की सहायता के बिना पदार्थ का अनुभव सम्भव नहीं होता। अथवा जगत् मिथ्या है, क्योंकि जगद्विषयक अनुभव सुषुप्ति एवं निर्विकल्प-समाधि में बाधित हो जाता है। किंवा जगत् मिथ्या है, क्योंकि वह आत्मप्रकाश से प्रकाशित होता है। जगत् की सत्ता और स्फुरण आत्मसत्ता तथा आत्मचैतन्य के अधीन है (क्योंकि मैं जानता हूँ' इस प्रकार विषयों के अनुसन्धाता और ज्ञान के आश्रयरूप में आत्मचैतन्य का स्फुरण आवश्यक दिखाई पड़ता है)। इसलिए जगत् की अपनी निजी सत्ता या स्फुरण नहीं है। इसीलिए जगत् का अनुभव सर्वकालीन

नहीं है। परन्तु आत्मा स्वयं और सर्वदा प्रकाशमान रहता है। आत्मा स्वानुभवगोचर चिदाभास से प्रकाशित नहीं होता।

अज्ञान या मोह व्यर्थ ही मूर्ख मनुष्यों को भ्रम में डालता है। 'मिथ्या माया का कार्य होने से जगत् मिथ्या है' इस प्रकार वैराग्य (किसी भी विषय में आस्था के परित्याग) पूर्वक विचार करने से ऐकात्म्य निश्चय दृढ़ हो जाता है। फलस्वरूप माया का आवरण नष्ट हो जाता है। परमानन्द आत्मस्वरूप सहज ही हृदय में प्रकाशित हो जाता है।

यत्तु नो दृश्यते किञ्चिदन्तस्थमपि किञ्चन।
अविनाशि तदस्तीह तत् सदात्मेति कत्थ्यते ॥ ९ ॥

जो समीप में रहते हुए भी कभी दिखाई नहीं पड़ता, किन्तु जिसका स्वरूप अविनाशी है, वह सद्वस्तु आत्मा ही साक्षात्कार के योग्य है-दूसरे पदार्थों को जानने से कोई लाभ नहीं है। आत्मा का ही अनुभव करना जीव का मुख्य कर्तव्य है। माया से आच्छादित होने के कारण आत्मा विशुद्धरूप में अनुभूत नहीं होता। अत्यन्त निर्मल अन्तःकरण में स्वतः प्रकाशमान होनेपर भी त्रिपुटीसाक्षी आत्मा में फलव्याप्ति सम्भव नहीं है ('मैंने आत्मा को जान लिया है' इस प्रकार पृथक् या वेद्यरूप में आत्मा का ज्ञान, यथार्थज्ञान या सम्यक् अनुभव नहीं है)। प्रत्यक्ष करने योग्य एकमात्र स्वप्रकाश, सुखरूप आत्मा है। अनात्मविषयों को जानकर सकल दुःखों की निवृत्ति नहीं होती; क्योंकि दुःखनिवृत्ति आत्मा को उपलक्षित करती है, परिज्ञात आत्मा ही परमानन्दस्वरूप है। विषयों को जान लेने से ज्ञान की पूर्णता भी नहीं होती। ज्ञानस्वरूप आत्मा या आत्माकार में दृढ़ परिणत बुद्धि अथवा आत्माज्ञान के संस्कार के सहित बुद्धि ही पूर्णज्ञान है।

स्वज्ञानदर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुजातयः।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः ॥ १० ॥

अपने ज्ञानरूप दर्पण (ज्ञानस्वरूप आत्मा) में दृश्यमान समस्त पदार्थ वैसे ही प्रतिबिम्बित होते हैं, जैसे तटस्थित वृक्ष नदी-जल में प्रतिबिम्बित होते हैं। वृक्ष का प्रतिबिम्ब जैसे सत्य वृक्ष नहीं हैं, वैसे ही आत्मचैतन्य में प्रतिबिम्बित जगत भी सत्य नहीं है। दृष्टान्त में वृक्षों के व्यावहारिकरूप से सत्य होने पर भी दार्ष्टान्तिक में बिम्बस्थानीय प्रपञ्च सत्य नहीं है। सादृश्य अध्यास का यथार्थ में कारण नहीं है, अज्ञान ही अध्यास का मुख्य कारण है। स्वप्न में शिरश्छेदन, आकाश-गमन आदि दिखाई पड़ते हैं, पर जाग्रत् में तत्सदृश अनुभव नहीं होता। अतएव जाग्रत का अनुभव स्वप्न का कारण नहीं है। आत्म-स्वरूप का अज्ञान ही जैसे जाग्रदनुभव का कारण है, वैसे ही स्वप्ना-नुभव का कारण भी वही है। सादृश्य के बिना भी भ्रम देखा जाता है। केवल अज्ञान से भ्रम उत्पन्न होता है। जगत् में सत्यता-भ्रम का कारण भी केवल अज्ञान ही है। सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष आदि द्वन्दों का कारण केवल अज्ञान है। अज्ञान से बन्ध की प्रतीति होती है, आत्म-ज्ञान होने पर मुक्तिसुख अनुभूत होता है।

सर्गश्चित्स्पन्दमात्रात्मा सम्यग्दृष्टौ विलीयते।
उदेत्यसम्यग्दृष्टौ तु रज्ज्वां सर्पभ्रमो यथा॥ ११॥

यह जगत् चैतन्य का स्पन्दमात्र है। सम्यक् ज्ञान का उदय होने पर वह नष्ट हो जाता है। मिथ्याज्ञान का आविर्भाव होने पर यह सृष्टि वैसे ही भासमान देखी जाती है, जैसे अन्धकार में दृष्ट रज्जु में सर्प का ज्ञान। रज्जु को अच्छी तरह पहचान लेने पर सर्पभ्रम नष्ट हो जाता है। आत्मस्वरूप में स्थित होने पर जगत् का दर्शन नहीं होता। स्वरूप से च्युति (चित्त के स्पन्दित) होने पर जगद्वासना और त्रिपुटी का उदय होता है और द्रष्टा जीव प्रपञ्च का दर्शन करता है। फिर प्रयत्नपूर्वक स्वरूप-ज्ञान होने पर मैं अद्वय ज्ञातमा हूँ, द्रष्टा नहीं, दृश्य मिथ्या है', ऐसा दृढ़ विचार होने पर सृष्टि विलीन हो जाती है।

भोगवासनाया यांति बन्धो दाढर्यमवस्तुजः ।
तयोपशान्तया यांति बन्धो जगति तानवम् ॥५२॥

बन्ध मिथ्यास्वरूप होने पर भी भोगवासना द्वारा दृढ़ हो जाता है। वासना के शान्त होने पर वह तुच्छ या शिथिल हो जाता है। अतएव वासना का परित्याग करना उचित है। वासना का उद्भव न होने देकर चित्त जितना ही आत्माकार में आकारित होगा उतना ही जगत्सम्बन्धी संस्कार शिथिल होता जायगा और परमात्मवासना की अभिवृद्धि होने लगेगी। आत्मा के चिन्तन, कथन, परस्पर चर्चा आदि में रत रहने पर चित्त आत्माकार में आकारित होता जाता है और आत्मसम्बन्धी संस्कार बढ़ता है। क्रमशः दृढ़ आत्मवासना के उपचित होने पर जगद्वासना का अभाव उपलब्ध होता है, हृदय में विषयों की अभिलाषा स्फुरित नहीं होती और फलस्वरूप प्रत्यक्ष रूप में जगत् का बाध सिद्ध हो जाता है। बलवान् वासना या संस्कार की ही जय हुआ करती है। बलवत्तर संस्कार का ही अन्तःकरण में वृत्तिरूप से उदय होता है, यह गम्भीर मनोवैज्ञानिक तत्त्व है। इसे हृदयङ्गम कर लेने पर अनायास ही जगद्वासना का पराभव कर आत्मवासना दृढ़ करना सम्भव होता है। इस श्लोक में दृढ़ आत्मवासना की उत्पत्ति का साधन बतलाया गया है।

आत्मज्ञान का (हृदय में अखण्डाकार वृत्ति का) उदय या आत्मदेव का आविर्भाव किंवा दर्शन स्वभावतः सिद्ध है। यह वस्तुतन्त्र है, पुरुषतन्त्र या कर्मतन्त्र नहीं। हृदय में सर्वदा भगवान् आत्मा विराजमान हैं फिर भी विषयवासना के उद्रेक (विषयाकारवृत्ति के उदय) से वे मानों आवृत्त हो जाते हैं-विशेषरूप से अर्थात् 'मैं भगवान् आत्मदेव हूँ, अन्य नहीं' इस प्रकार ज्ञानपूर्वक स्फुरित नहीं होते। विषयाकार वृत्ति के प्रयत्नपूर्वक तिरोधान से वे पुनः भासित हो जाते हैं। इसलिए विषयों का चिन्तन आदि जितना ही बन्द हो जाता है, उतना ही

आत्मदेव का अपने यथार्थ स्वरूप में स्वतः अनुभव होने लगता है। यह आत्मानुभव की दृढ़ता वासना के सम्यक् परिक्षय से सम्पन्न होने पर जगत् का प्रत्यक्ष बाध हो जाता है और मुक्तिसुख स्वाभाविक अनुभव में आता है।

इसके विपरीत क्रमशः जगत्सम्बन्धी वासना अविद्या तथा अन्तःकरण के साभास परिणाम (वृत्ति) रूप से साक्षीभास्य एवं प्रभातवेद्य होकर आविर्भूत होती है। इसलिए साक्षी चैतन्य में त्रिपुटी-भाव का विलय या एकीभवन विषयज्ञान की प्रत्यक्षता कहा गया है और घटादि विषयों का अन्तःकरण के वृत्तिरूप में प्रमातृचैतन्य के साथ अभिन्नरूप में अवस्थान विषयगत प्रत्यक्ष कहा जाता है। पहले घट चक्षु से दिखाई पड़ता है। बाद में वह वृत्तिरूप में घटद्रष्टा का अङ्ग हो जाता है। फिर घट बाहरी वस्तु नहीं रह जाता और अन्त में त्रिपुटी (द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप त्रिविध साभास चैतन्य) एक साक्षी चैतन्य में विलीन हो जाती है। तभी 'मैंने घट देखा' ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। सुतराम, देखा जाता है कि इस प्रत्यक्ष घटज्ञान के मूल में साक्षीचैतन्य की उपाधि और साक्षी चैतन्य में अध्यस्त अविद्या के ही एकदेश में स्थित घटवासना विद्यमान है। यह घटवासना (घट देखने की दृढ़ इच्छा या संस्कार) ही 'मैं घट देखता हूँ, इस रूप में स्फुरित होती है। ऐसे स्फुरण के परिणामस्वरूप ही चक्षु की सहायता से बहिःस्थिति घट का दर्शन सम्भव होता है। जो वासनारूप में विद्यमान नहीं, उसे न तो साक्षी देखता है और न प्रमात्ता ही जानता है। इस प्रकार बाहर या भीतर जो कुछ दिखाई पड़ता या अनुभूत होता है, वह सब वासना (अविद्या) का विलासमात्र है। जैसे दृश्य और उसका दर्शन या द्रष्टृत्व कल्पित है, वैसे ही साक्षीचैतन्य में अध्यारोपितमात्र है। अहंवासना, पदार्थवासना, भोगवासना आदि वासनाएँ ही जीव का परिच्छेद है। उनका सम्यक् क्षय होने पर जीव (प्रमाता) अपने साक्षीस्वभाव (निर्विकार चैतन्यस्वरूप) का स्वयं और सर्वदा अनुभव करता है।

जब कि सभी पदार्थ मायिक (नितान्त असत्य) हैं, तब वासना भी सम्भावित नहीं होती। फिर जब वासना ही सम्भव नहीं, तब पदार्थ का चिन्तन भी अनुपपन्न होता है। फलतः उसका चिन्तक भी असिद्ध हो जाता है। समस्त त्रिपुटियाँ मौर्ख्यचक्रिकाएँ हैं और चैतन्य के सभी परिच्छेद कल्पित एवं मिथ्या हैं। अन्ततः शुद्ध, बुद्ध, सदा मुक्त अपने सुखस्वरूप आत्मदेव ही हृदय में प्रकाशित हो जाते हैं। जगद्-भाव के निवृत्त होने पर निज परिच्छिन्न अहम्भाव (जीवभाव) भी विलुप्त हो जाता है। उत्तम वैराग्यवान् पुरुष के लिए वासनात्याग एवं बन्धनिवृत्ति सहज ही सम्भव होती है।

मनः सम्पद्यते तस्मान्महतः परमात्मनः।
सुस्थिरादस्थिराकारं तरङ्गा इव वारिधेः॥ १३ ॥

स्थिर एवं व्यापक परमात्मा से चञ्चल मन की वैसे ही उत्पत्ति होती है, जैसे स्थिर समुद्र से अस्थिर तरङ्गों की उत्पत्ति। परमात्म-स्वरूप ब्रह्म से मन की उत्पत्ति होती है और मन से जगत् की प्रतीति होती है, क्योंकि मन की वृत्ति की सहायता से विषयों का ज्ञान होता है। ब्रह्म के स्थिर एवं निश्चल होने पर भी उससे अस्थिर एवं चञ्चल (विरुद्ध धर्म युक्त) मन की उत्पत्ति वैसे ही होती है, जैसे स्थिर गम्भीर एवं निश्चल समुद्र से क्षणिक एवं अस्थिर तरङ्ग की उत्पत्ति देखी जाती है। इस प्रकार मन नाना प्रकार के सङ्कल्पकर जगत् की विचित्रता प्रदर्शित करता है। यदि मन कल्पना का परित्याग कर दे, तो जगत् की कोई वस्तु ही नहीं रह जाती (देखिये-'सृष्टिसमीक्षा')। मन स्वस्वरूप में निमग्न रहे, तो किसी प्रकार का विकल्प उत्पन्न नहीं होता (देखिये—'चित्त-विश्रान्ति')। सुषुप्ति के समय मन जब पुरीतति नामक नांड़ी में लीन रहता है, तब मन का अभाव होने से जगत् का भान (अस्तित्व) नहीं रहता। यदि जगत् सत्य होता, तो सुषुप्तिकाल में भी वह भासमान रहता, क्योंकि सत्य वस्तु का कभी

भी अभाव नहीं होता। किन्तु सुषुप्ति तथा समाधि में जगत् का अभाव देखा जाता है। जाग्रत् और स्वप्न में जगत् भिन्न-भिन्न रूप दीखता है। इस प्रकार विभिन्न प्रकारों से प्रतीयमान आविर्भाव-तिरोभावशील जगत् सत्य कैसे कहा जा सकता है? अतः जगत् वास्तविक नहीं है।

सुवर्ण से नाना प्रकार के अलङ्कार निर्मित होते हैं किन्तु साधारण मनुष्य प्रत्येक आभूषण को भिन्नरूप में (भिन्न नाम तथा आकार में) जानता है। जिस अलंकार का जो नाम और आकार होता है, उसे उस नाम एव उस आकार में पहचानता है। अलङ्कार के मुख्य अधिष्ठान सुवर्ण में उसकी बुद्धि प्रवेश ही नहीं करती। देखने के समय यद्यपि सुवर्ण ही दिखलाई पड़ता है, तथापि मूर्ख मनुष्यों की चित्तवृत्ति सुवर्ण के आकार में आकारित नहीं होती, वह अलंकार को सुवर्ण नहीं समझता। नाम और रूप के भ्रम में निमग्न रहने से साधारण मनुष्य प्रत्यक्ष सुवर्ण देखे तो भी उसके चित्त में अन्य प्रकार की धारणा (विपरीत प्रतीति) दृढ़ रहती है। ठीक इसी प्रकार आत्मा स्वतः सिद्ध और सर्वदा प्रत्यक्ष अनुभूयमान होने पर भी अज्ञजन उसे नाम रूपात्मक विरुद्ध स्वभाव, विभिन्न पदार्थरूप में ही ग्रहण करता है। भासमान नाम रूपात्मक भ्रम में पड़कर अविवेकी पुरुष भिन्न-भिन्न पदार्थ को सत्य मानता है और मुख्य आत्मस्वरूप को भूल जाता है। नामरूपभ्रम का निरसन होते ही शुद्ध ब्रह्म स्वयं हृदय में प्रत्यग्रूप में भासित होता है।

ब्रह्मसत्ता प्रकाश-सुखात्मक और जगत् नामरूपात्मक है। अज्ञजन इस पृथ्वी पर विद्यमान सुन्दर नगर, गृह, वृक्ष प्रभृति को अर्थात् जिन सब विभिन्न पदार्थों से पृथ्वी की विचित्रता सिद्ध होती है उन सबको सत्य मानता है। यथार्थ वस्तुस्वरूप का ज्ञान न होने से उन सब पदार्थों को एकमात्र पृथिवीरूप नहीं जानता। परिणामस्वरूप उसका भ्रम क्रमशः बढ़ता रहता है। किन्तु जिन्हें परमार्थदृष्टि होती है— जो अधिष्ठान को जानते और देखते हैं, उन्हें नगर, गृह, वृक्ष आदि सब कुछ अविभिन्न एवं पृथिवीमय प्रतीत होता है। इस प्रकार जागतिक सब पदार्थों पर

आरोपित नाम और रूप के परिवर्जन से एक मूलवस्तु ब्रह्म ही स्वयंभात होती है।

यत् स्वयंस्वैरमेवाशु सङ्कल्पयति नित्यशः।
तेनेयमिन्द्रजालश्रीर्जाग्रति प्रवितन्यते ॥ १४ ॥

यह मन निरन्तर जो-जो सङ्कल्प करता रहता है, उसी उसी कल्पना के बल पर जाग्रदवस्था में संसार (दृश्यमान प्रपञ्च) मन से कल्पित मात्र है सत्य नहीं। ज्ञानयोग के अभ्यास से जितना-जितना विषयों का विस्मरण और दृश्य का निरसन होता है उतना ही उतना द्रष्टा (साक्षि-चैतन्य) स्वरूप में स्वयं प्रकाशित होता है। स्फुरण या कल्पना का निरोध करना (दृश्यरहित स्वतः सिद्ध निज बोधस्वरूप में सहज अवस्थान, निदिध्यासन) ही दृढ़ आत्मानुभव का एकमात्र साधन है। फलस्वरूप प्रपञ्च का मायिकत्व और मिथ्यात्व प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। उक्त क्रम के बिना संकल्प की तनुता (क्षीणता) साधित नहीं होती और जागतिक पदार्थों का अभाव भी नहीं होता।

यथा बालस्य वेतालो मृत्युपर्यन्तदुःखदः।
असदेव सदाकारं तथा मूढमतेर्जगत् ॥ १५ ॥

जैसे वेताल मूर्ख बालक को सर्वदा दुःखप्रद होता है, वैसे ही वह मिथ्या-जगत् भ्रान्तबुद्धि पुरुष को सत्य भासित होकर मरणपर्यन्त दुःख का कारण बनता है।

अव्युत्पन्नस्य कनके कानके कटके यथा।
कटकव्यक्तिरेवास्ति न मनागपि हेमधीः ॥ १६ ॥
तथाऽज्ञस्य पुरागारनगनागेन्द्रगोचरा।
इदं दृश्यंदृगेवास्ति न त्वन्या परमार्थदृक् ॥ १७ ॥

अज्ञानी मनुष्य को जैसे सुवर्णनिर्मित कटक, कुण्डलादि में कटक-

कुण्डलबुद्धि ही होती है, सुवर्ण का ज्ञान (अवधारण) कभी भी नहीं होता, वैसे ही अनात्मज्ञ पुरुष को नगर, गृह, वृक्ष, पर्वत, सर्प, आदि दृश्य पदार्थ ही केवल दृष्टिगोचर होते हैं—शुद्ध द्रष्टृस्वरूप परमात्मा कभी भी अनुभव में नहीं आता। अर्थात् विकारात्मक समस्त निरर्थक नाममात्र विषयों को ही वह सत्य समझता है। उसे 'परमार्थभूत अधिष्ठान दृक्पदार्थ ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है' ऐसी बुद्धि (निश्चय) उदित नहीं होती। द्रष्टा और दृश्य ये परस्पर विलक्षण दो पदार्थ हैं। दृश्य मायिक एवं मिथ्या है और दृक् ब्रह्मस्वरूप एकमात्र सत्य है। द्रष्टा पुरुष सङ्कल्प द्वारा दृश्य पदार्थ उत्पन्न कर सकता है, पर दृश्य स्वकीय सत्ता एवं स्फुरण से रहित है, अतः वह द्रष्टा को उत्पन्न नहीं कर सकता। जो स्वयं असत्य है, वह दूसरे को किस प्रकार उत्पन्न कर सकता है? दृक् और दृश्य वस्तुतः न तो निरक्षेप दो पदार्थ हैं और न हो ही सकते हैं। द्रष्टा ही संकल्पवशात् मिथ्या दृश्य पदार्थ उत्पन्न कर वृथा ही दृश्य का अनुभव करता और सुखी-दुःखी होता है। फलस्वरूप दृश्य में द्रष्टा पुरुष का हवन हो जाता है—मायिक प्रपञ्च में ब्रह्म ढँक जाता है। जगत् सत्यवत् प्रतीत होता और ब्रह्म असत्य हो जाता है।

सुख और दुःख अन्तःकरण के विकार हैं। वे आगमापायी एवं विरस दृश्य पदार्थों के उत्पादन के फलस्वरूप सम्भव होते हैं। वैराग्य और स्वरूप-चिन्तन होते रहने पर सारी दृश्यकल्पना बन्द हो जाती है और निज शुद्ध द्रष्टृस्वरूप ही स्वयं प्रतिभात् होने लगता है--दृश्य सर्वथा लुप्त हो जाता है और ब्रह्म में जगत् हुत (अर्पित, अभावप्राप्त) हो जाता है। कोई भी, किसी की भी कल्पना न करके स्वयं अवस्थित होने पर निज शुद्ध स्वरूप ही भासमान होता है। किसी भी प्रकार का मानसिक व्यापार, वृत्ति, या विषय साक्षीपुरुष के समीप भासित नहीं होता। फलतः प्रमातृभाव भी नहीं उठता। जीव अपने शुद्ध परमार्थ स्वभाव में सम्यक् अवस्थित हो जाता है। इस प्रकार विचार की सहायता से स्पष्ट ज्ञात होता है कि दृश्यपदार्थ परमार्थ द्रष्टा चैतन्य

के बहिर्भूत नहीं हैं, क्योंकि आत्म-ज्योति से ही वह अधिष्ठान में कल्पितरूप में प्रतिभात होता है। सुतरां दृश्य पदार्थों की पृथक् सत्ता नहीं रह सकती, ज्ञाता पुरुष में (अपने साक्षीस्वरूप में कोई भी ज्ञेय वस्तु वास्तविक नहीं है। द्रष्टा अपने पारमार्थिक अद्वितीय अनुभव-स्वरूप में सर्वदा विद्यमान है। जीव अपने परमार्थ (शुद्ध साक्षी) स्वरूप को जान कर उसमें जब दृढ़तापूर्वक स्थित हो जाता है, तब समस्त कल्पनाओं (दृश्यों) का आत्यन्तिक अभाव सिद्ध हो जाता है।

ब्रह्मज्ञान सम्पादित हुए बिना किसी भी तरह दुःख का अन्त नहीं हो सकता, इसे विशदरूप से बतलाते हुए कहते हैं—

अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्याऽऽनन्दमयं जगत् ।
अन्धं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सचक्षुषः ॥१८॥

जब तक तत्त्व का ज्ञान नहीं होता तब तक जगत् दुखों से परिपूर्ण अनुभूत होता है। तत्त्वज्ञ को जगत् परमानन्दरूप प्रतीत होता है। जिसको नेत्र नहीं है वह जगत् को अन्धकारमय देखता है, पर जिन्हें आँखें हैं, वे विश्व को प्रकाशयुक्त देखते हैं। अर्थात् जो अपने भीतर साक्षिभास्यरूप में अनुभूत होता है, वही बाहर प्रमातृवेद्यरूप में प्रकाशित या ज्ञात होता है। वासनारूप में भीतर (साक्षीचैतन्य में), अध्यस्तरूप से जो विद्यमान रहता है, वही अन्तःकरणवृत्ति की सहायता से त्रिपुटीपूर्वक अनुभूत होता है। साक्षीभास्य दृश्य भीतर (द्रष्टापुरुष में) कल्पित रूप में पहले अनुभूत हुए बिना प्रमाता किसी भी प्रकार अन्तःकरण की सहायता से उसे जान नहीं सकता। अतः कल्पना या वासना के आत्यन्तिक विलय-साधन में नित्य, निरन्तर प्रयत्न करना परमावश्यक कर्त्तव्य है। अन्यथा वासना कभी न कभी अवश्य ही हृदय में उदित हो जायगी और प्रमाता जीव किसी न किसी समय तत्सम्बन्धी अनुभव करेगा ही, इस प्रकार दुःख की निवृत्ति कभी न होने पायेगी। दृढ़ विचार या ज्ञानाभ्यास के फलस्वरूप सभी वासनाएँ

निवृत्त हो जाती हैं। ऐसा अभ्यास 'योग' नाम से भी कहा जाता है।

शुद्ध अविनाशी ब्रह्म में जगत् की कल्पना किस तरह उठ सकती है, इसका उत्तर अगले श्लोक में दिया जाता है—

यथा विशुद्ध आकाशे सहसैवाभ्रमण्डलम्।
भूत्वा विलीयते तद्वदात्मनीहाखिलं जगत् ॥१९॥

यहाँ 'आत्मन्येवाखिलं जगत्' ऐसा भी पाठान्तर है। आकाश के स्वयं शुद्ध होते हुए भी उसमें जैसे अकस्मात् मेघमण्डल आविर्भूत होकर फिर विलीन हो जाता है; वैसे ही ब्रह्म में अखिल जगत् की उत्पत्ति और विलय सम्भव होता है। इससे ब्रह्म में किसी प्रकार का संग या लेप नहीं होता। यद्यपि आकाश वस्तुतः निर्मल, अनन्त, अगाध और सर्वव्यापक है तथापि उसमें अकस्मात् मेघमण्डल उत्पन्न हो जाता और थोड़े ही समय में विलीन हो जाता है। मेघ आते और चले जाते हैं, पर आकाश पूर्ववत् असंग ही बना रहता है, मेघ की मलिनता उसे स्पर्श नहीं करती या वह मेघ के समान नहीं हो जाता। ठीक इसी प्रकार शुद्ध आत्मचैतन्य में जड़ विश्व का आभास उत्पन्न होता है और जब विश्व का लय हो जाता है, तब वह पूर्ववत् अपने अविकृत सच्चिदानन्दस्वभाव में ही स्थित रहता है। रूपरहित विशुद्ध ब्रह्म में जगत् का आरोप होने पर भी विश्व के साथ ब्रह्म का किसी प्रकार का संस्पर्श नहीं रह सकता।

अब विश्व वस्तुतः नहीं है, यह बतलाया जाता है—

आदित्याव्यतिरेकेण रश्मयो येन भाविताः।
आदित्य एव ते तस्य निर्विकल्पः स उच्यते ॥२०॥

सूर्य की किरणों को जो सूर्य से अपृथक् जानते हैं, उन्हें रश्मियाँ सूर्यरूप ही प्रतिभात होती हैं। इसी प्रकार जिन्होंने विश्व को ब्रह्म से अभिन्न जान लिया है, उनके लिए जगत् ब्रह्मरूप ही है, ब्रह्म से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं। यहाँ यथार्थदर्शी पुरुष को 'निर्विकल्प' कहा गया है, क्योंकि उसकी सारी भेदबुद्धि या विकल्प नष्ट रहते हैं। भेदबुद्धि का

उत्थान होने पर विश्वदर्शन (प्रमातारूप में प्रमेय दृश्य का ग्रहण) सम्भव हो जाता है। जिनके अन्तःकरण से विकल्प नष्ट हो गये हैं, उनके लिए दूसरे पदार्थका दर्शन सम्भव नहीं होता। वे अनुभवस्वरूप निज निर्विकल्प आनन्दस्वभाव में नित्य स्थित रहते हैं। चित्त में संकल्प का स्फुरण न हो, तो कोई आन्तर दृश्य पदार्थ (अविद्या की वृत्ति या विलास) साक्षी के आगे भासित नहीं होता। आगमापायी, साक्षीभास्य सभी संकल्प-विकल्प मिथ्या हैं। इस प्रकार उनका प्रतिक्षण तिरस्कार एवं निरसन करने से (अनुदय से) पदार्थवासना शिथिल हो जाती है। दृढ़ विचार के बलपर वासना के हृदय से उन्मूलित होने पर विकल्प या भेदबुद्धि का अन्त हो जाता है। परिणामस्वरूप परमार्थदृष्टि या समदर्शन सिद्ध होता है।

तन्तुमात्रो भवत्येव पटो यद्वद्विचारितः।
आत्मतन्मात्रमेवेदं तद्वद्विश्वं विचारितम् ॥२१॥

जैसे विचार करके देखने पर वस्त्र तन्तुमात्र ही प्रतिभात होता है, क्योंकि आतान-वितानात्मक सूत्रों के सिवा वस्त्र की कोई सत्ता ही नहीं रहती; वैसे ही विचार की सहायता से देखने पर विश्व ब्रह्मरूप में अनुभूत होता है, कारण जगदाकार में ब्रह्म ही विवर्तित हैं। जगत् कोई अन्य वस्तु नहीं है। जगद्रूप में प्रत्यक्ष अनुभूयमान वस्तु ब्रह्म ही है, अन्य कुछ नहीं। अन्तः विश्व ब्रह्म से भिन्न पदार्थ नहीं है।

विश्ववीचिविलासोऽयं चित्सुखाब्धेरुदेति च।
विलीयते च तत्रैव मध्ये कथमतन्मयः ॥२२॥

ब्रह्मरूप अमृत समुद्र से जगद्रूप तरंग उत्पन्न होती है और उस समुद्र में ही वह पुनः विलीन हो जाती है। अतएव जगत् के स्थितिकाल में भी विश्व ब्रह्ममय (ब्रह्मरूप) क्यों न होगा ? जल से उत्पन्न लहरी चाहे लहररूप में रहे या पुनः जल में विलीन हो जाय, जैसे

सर्वदा जलरूप ही रहती है, जल के सिवा और कुछ भी नहीं, वैसे ही विश्व सर्वदा ब्रह्मरूप ही है, जगत् किसी भी समय ब्रह्म से भिन्न नहीं। जिस समय प्रपञ्चरूप में जगत् का प्रतिभान होता है, उस समय भी जगत् ब्रह्मस्वरूप से अतिरिक्त कुछ नहीं होता। जागतिक पदार्थों की वासना ही जगत् का स्वरूप है। वासना दृढ़ संकल्प का परिणाम है। संकल्प पदार्थ नहीं है, मन में मिथ्या ही उसका उदय और तिरोभाव होता है। अवस्तुभूत सांकल्पिक पदार्थों में बुद्धिमान् पुरुष आस्था नहीं करते। फलतः अनात्म-वासना क्षीण हो जाती है और वासना के नष्ट हो जाने पर जगत् पुनः ब्रह्मरूप हो जाता है।

यथा न तोयतो भिन्नाः फेनोर्मिहिमबुद्बुदाः।
आत्मनोऽपि तथाऽभिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम् ॥२३॥

जल से उद्भूत फेन, तरङ्ग हिम, बुद्बुद जैसे जल से भिन्न नहीं है, वैसे ही ब्रह्म से उत्पन्न जगत् भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है; क्योंकि कार्य और कारण में भेद नहीं हुआ करता। भ्रम से जगत् का दर्शन होने पर भी अधिष्ठान ब्रह्म अपने अविकृत स्वभाव में ही स्थित रहता है। अतएव दृश्यमान जगत् को ब्रह्म का 'विवर्त' कहा गया है, 'परिणाम' नहीं। शुद्ध अनुभव स्वरूप ब्रह्म में संकल्पित जगत् की उत्पत्ति होने पर भी किसी प्रकार का विकार उसे स्पर्श नहीं करता। अनुभवमात्र में दृश्य पदार्थ का किसी प्रकार से लेप सम्भव नहीं है। इस असङ्ग स्वभाव के कारण आत्मा को चेतन-आकाश (चिदाकाश) कहा गया है। आकाश जिस प्रकार मेघ से सदा अस्पृष्ट एवं अविकृत रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी कल्पित पदार्थों के सम्पर्क से किसी प्रकार के विकार को प्राप्त नहीं होता। वह सर्वदा एकरस स्वयम्प्रकाश सुख-स्वरूप में स्थित है। 'यह कारण है, यह कार्य है' यह सब विकल्पमात्र है। परमार्थ सत्य वस्तु सब विकल्पों से अतीत है। समस्त वृत्तियों का निरोध होने पर विशुद्ध अन्तःकरण में आत्मा सहज ही भासमान

और स्वयं परिज्ञात होता है। उसे जानने के लिए वृत्ति की सहायता अपेक्षित नहीं है, क्योंकि वृत्ति या प्रमाता का प्रकाश आत्मज्योति का प्रतिबिम्ब मात्र है। कहा जा सकता है कि प्रतिभास बिम्बभूत चैतन्य को प्रकाशित कर सकता है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा अपने प्रकाश से नित्य प्रकाशित रहता है। वृत्तिज्ञान तो केवल आत्मा के आवरण को ही अपसारित है। निरावरण आत्मचैतन्य अपनी ज्योति से निरन्तर भासता ही रहता है।

आत्मनोऽपि तथा विश्वमात्मन्येव लयं व्रजेत्।
मृदि कुम्भो जले वीचिः कनके कुण्डलं यथा ॥२४॥

ब्रह्म से उद्भूत जगत् - जगत् किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं होता—ब्रह्म में ही लय को प्राप्त होता है, इस विषय में तीन दृष्टान्त दिये जा रहे हैं - (१) घट जैसे मृत्तिका में लीन होता है, २) तरङ्ग जैसे जल में लीन होती है और (३) अलंकार जैसे सुवर्ण में अपनी सत्ता अर्पण कर देता या लय को प्राप्त होता है, वैसे ही आत्मा से उत्पन्न यह जगत् आत्मा में ही विलीन होता है। भ्रमवश अधिष्ठान ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता है। उसकी उत्पत्ति और लय वास्तविक (पारमार्थिक) नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्म को जगत् का कारण कहा गया है। ब्रह्म मन और वाणी से अतीत है, अतएव उसे जगत् का कारण नहीं कहा जा सकता। जगत् किसी भी कारण से उत्पन्न नहीं होता, अतः मिथ्या है। यही ब्रह्म में विश्व का विलय है। अधिष्ठानस्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर कल्पित वस्तु नितान्त बाधित हो जाती है। तब 'जगत् किसी भी काल में नहीं या नहीं रह सकता' इसका स्पष्ट अनुभव हो सकता है। यही ज्ञानकृत 'महाप्रलय' है।

आत्माज्ञानाज्जगद् भाति स्वात्मज्ञानान्निवर्तते।
रज्ज्वज्ञानादहिर्भाति तज्ज्ञानाच्च निवर्तते ॥२५॥

ब्रह्म से अज्ञानवश जगत् उदित होता है। 'तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्यः' यह ब्रह्मसूत्र २।१।१४) है। ब्रह्मज्ञान होने पर जगत् वैसे ही बाधित हो जाता है, जैसे रज्जु को बिना जाने भ्रमवश उसमें सर्प भासित होता और रज्जु को पहचान लेने पर उसका अत्यन्त अभाव सिद्ध हो जाता है। इसीलिए भ्रम से भासमान जगत् को ब्रह्म का 'विवर्त' कहा गया है। ब्रह्म स्वभाव में स्थित है, जगत्-प्रपञ्च सर्वथा ही मिथ्या है। विश्व वस्तुतः किसी समय या किसी कारण से न तो उत्पन्न होता है और न विलीन ही होता है, यह विश्व केवल वाणी का विलासमात्र है, जरा भी सत्य नहीं है। परिपूर्ण आत्मा का सम्यक् दर्शन होने पर जगत् अत्यन्त असत् हो जाता है। जब तक आत्मा का यथार्थतः ज्ञान नहीं होता या उसे जानने का प्रबल प्रयत्न नहीं किया जाता, तब तक जगत् सत्यवत् भासित होता रहता है। जिज्ञासा-काल में जगत् का प्रत्यक्ष अभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उस समय आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार उदित नहीं हुआ रहता। ज्ञानदशा में आत्मा जब प्रत्यक्ष भाससान होता है, तब जगत् सर्वथा ही मिथ्या हो जाता है। ज्ञान द्वारा ही ब्रह्म में जगत् का अत्यन्त विलय साधित होता है।

तस्यादृश्यात्मतत्त्वस्य विस्मृत्यैव स्थितं गतम्।
जगत् स्यादीश्वराद्राम भ्रमाद्रज्जुभुजङ्गवत् ॥२६॥

हे राम! दुर्ज्ञेय आत्मतत्त्व के विस्मरण से जगत् स्थिररूप में स्थित रहता है। आत्मज्ञान के उदय से वह वैसे ही विलुप्त हो जाता है जैसे रज्जुज्ञान होने पर भ्रमरूप सर्प। इसीलिए निरन्तर आत्म-विचार करना चाहिए। जब दृढ़ विचार से आत्मा सम्यक् प्रकाशित होता है, तब जगत् का अत्यन्त अभाव सिद्ध होता है। 'मैं कौन हूँ, जगत् क्या है' इसका सदा विवेचन करना चाहिए। इससे 'मैं त्रिपुटी के अन्तःपाती द्रष्टा नहीं हूँ, दृश्य जगत् भी सत्य नहीं है; अपितु त्रिपुटी का साक्षी, शुद्ध स्वप्रकाश, सुखस्वरूप परमात्मचैतन्य ही मेरा

और दृश्य जगत् का तात्त्विक स्वरूप या अधिष्ठान है' ऐसी दृढ़ प्रतीति का उदय होता है। तब अदृश्य आत्मा का दर्शन होता है और दृश्य जगत् सर्वथा और सर्वदा अदृश्य हो जाता है। अहम्भाव (जीव या प्रमातृभाव) अन्तःकरण के साथ आत्मा के सम्बन्ध से सिद्ध होता है। सुषुप्तिकालीन अनुभव के विचार से ज्ञात होता है कि अन्तःकरण के साथ आत्मा का सम्बन्ध वास्तविक एवं व्यभिचाररहित नहीं है, क्योंकि सौषुप्त आत्मा (आनन्दमय) अन्तःकरणरहित, स्वकीय स्वप्रकाश सुखस्वरूप में स्थित रहता है। अन्तःकरण के साथ अध्यास स्वाप्निक आनन्दमय में रहता है। सौषुप्त आनन्दमय का अज्ञान के साथ संयोग कल्पितमात्र है, प्राज्ञ (अज्ञानसंयुक्त सौषुप्त साक्षी आत्मा) वास्तविक तुरीय अज्ञानविनिर्मुक्त ब्रह्म है। (इस विषय का विस्तृत विवेचन 'आनन्द-तत्त्व-मीमांसा में किया है)।

देहादि जगत् पदार्थ तथा तत्तदाकार वृत्तियों का भी अभाव सुषुप्तिकाल में दिखलाई पड़ता है, अतः दृश्य और दर्शन मिथ्या है। फलतः द्रष्टृत्व (प्रमातृभाव) भी कल्पित है। 'मैं कौन हूँ, जगत् क्या है' इसके विचार से यही प्रतिपन्न होगा कि 'मैं प्रमाता नहीं हूँ, दृश्य भी सत्य नहीं है, क्योंकि इन दोनों भावों के आगम तथा अपाय का साक्षात् ज्ञाता मैं हूँ। अतः मैं सर्वदा ज्ञानस्वरूप हूँ देह और जगत् मुझमें केवल कल्पित हैं, सब भाव और अभाव मुझमें उदित एवं अस्त होते हैं। मैं निर्विकार रूप से समस्त विकारों और संकल्प-विकल्पों को जानता हूँ। सभी संकल्प-विकल्प मन की वृत्तियाँ हैं, मन मुझमें उदित होता और लीन हो जाता है। मुझमें मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार कुछ भी नहीं है। मैं शुद्ध, बुद्ध, स्वयम्प्रकाश सुखस्वरूप आत्मा, सर्वत्रिपुटीप्रकाशक, सर्वत्रिपुटीविर्जित, कूटस्थ, आनन्दब्रह्म हूँ। जब तक आत्मविचार उत्पन्न नहीं होता, तबतक जगत् दृढ़रूप में स्थित रहता है। विचारहीन मनुष्य पशुतुल्य और जीवन्मृत है। विचार की

सहायता से जिज्ञासुजन आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं और जीवदशा में मुक्त (अत्यन्तसुत सुख) हो जाते हैं। (इस सम्बन्ध में 'साधनरहस्य' द्रष्टव्य है)।

स्वप्ने जाग्रदसद्रूपा स्मृतौ जाग्रदसद्वपुः ।
मृतिर्जन्मन्यसद्रूपा मृतौ जन्माप्यसन्मयम् ॥२७॥
एवं न सन्नासदिति भ्रान्तिमात्रं विजृम्भते ।
अनुभूयत एवाशु किञ्चित्सर्वानुभूतितः ॥२८॥

जिस प्रकार स्वप्न में जाग्रत-अवस्था नहीं रहती स्मरण में जागरण मिथ्या हो जाता है, मरण में उत्पत्ति मिथ्या हो जाती है और उत्पत्तिकाल में मरण भी मिथ्या हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा में सत्-असत्, स्थूल-सूक्ष्म, कार्य-कारण, तन्तु-पटादि कुछ भी नहीं है। ज्ञानदशा में वह सारा प्रपञ्च अत्यन्त मिथ्या हो जाता है। दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् भ्रम से भासमान हो रहा है। प्रपञ्चसम्बन्धी भिन्न-भिन्न ज्ञान [सब प्रमितियाँ] भी सर्वमूलभूत ज्ञानस्वरूप आत्मब्रह्म से उदित होते हैं, क्योंकि ब्रह्मसत्ता के बल पर ही इस विश्व की सत्ता अङ्गीकृत है। ब्रह्मसत्ता को हटा दिया जाय तो किसी की भी सत्ता नहीं रह जाती। ब्रह्म में अध्यस्त जगत् ब्रह्म की सत्ता से सत्तावान् और ब्रह्म के स्फुरण से स्फूर्तिशील [प्रकाशमान्] होता है, अन्यथा नहीं। अतएव समस्त प्रपञ्च और उसका प्रतिभान सभी कुछ ब्रह्म ही है अर्थात् पदार्थ और उसका ज्ञान दोनों ही अनुभव आत्मब्रह्म में कल्पितमात्र हैं।

—:o:—

जगत्के मिथ्यात्व का दृढ़ निश्चय होने पर तत्त्वज्ञान अनायास ही उत्पन्न होता है। इसीलिए आत्मज्ञान के लिए यत्न न कर अनात्म-परिहार का ही यत्न करना चाहिए, क्योंकि विषयाकार वृत्ति के परि-वर्जन से अन्तःकरण आप ही आप परिशिष्ट साक्षी आत्मा के आकार से आधारित हो जायेगा। अतएव समस्त विक्षेपों (अनात्मचिन्तनों) का परित्याग करके बुद्धि यदि अन्तर्मुख स्थिति हो जाय, उसे अविद्या में लीन होने न दिया जाय, तो सहज में ही वह अखण्ड आत्मप्रकाश से उद्भासित हो उठे और मुमुक्षु अनायास ही अपना स्वरूप प्रत्यक्ष जान ले। अखण्ड आत्मवस्तु के आकार में आकारित अन्तःकरण के अवस्थानरूप निर्विकल्प समाधि के अभ्यास से विषय-वासना का क्षय हो जाता है। फलतः सम्यक् (अप्रतिबद्ध) साक्षात्कार का उदय होता है और जीव स्वयं ही मुक्तिसुख का अनुभव कर लेता है।

जीवन्मुक्ति किसे कहते हैं और जीवन्मुक्ति के लक्षण क्या हैं इसका विवेचन करने के पहले संक्षेपतः जीवन्मुक्तिपर्यवसायी तत्त्वज्ञान या समाधिस्वरूप का वर्णन किया जाता है—

तत्त्वावबोध एवैकः सर्वाशातृणपावकः।
प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः ॥१॥

यहाँ 'तत्त्वात्मबोधः' ऐसा भी पाठान्तर मिलता है। परमात्मा का साक्षात्कार होने पर जो आत्मज्ञान प्राप्त होता है, वही विषय-तृष्णारूप तृणसमूह को दग्ध करने में समर्थ होता है। सकल विषय-तृष्णा का विनाशक यह ब्रह्मज्ञान 'समाधि' कहा जाता है। केवल निर्जन स्थान में मौन होकर बैठे रहना 'समाधि' नहीं है। गीता में भी ज्ञान को 'अग्नि' कहा गया है। समस्त आत्मवासना का क्षय होने पर हृदय में जो अप्रतिबद्ध बोध (चरम साक्षात्कारवृत्ति) का उदय

होता है, वही सब विषयवासनाओं को विध्वंस कर डालता है। जब तक अहंवासना का नाश नहीं होता तबतक प्रतिबन्धरहित वासना ही प्रतिबन्ध है ज्ञान का उदय नहीं होता। अर्थात् ज्ञानाग्नि अच्छी तरह प्रज्वलित नहीं होती। प्रज्वलित अग्नि जैसे तृणराशि को एक क्षण में अनायास भस्मसात् कर डालती है, वैसे ही वासना (अहन्ता, ममता, पुण्य-पापरूप कर्मसम्बन्धी संस्कार) का सम्यक् विलय होने पर अन्तर में जो आत्मप्रकाश उदित होता है, उसमें जब विषयाभिलाषाएँ विनष्ट हो जाती हैं। समस्त भ्रान्तियों एवं विक्षेपों से रहित अन्तःकरण का स्वतः स्वरूप में अवस्थान (अखण्ड वस्तुरूप में परिणमन या अचल एवं ब्रह्माकार में स्थिति) ब्रह्मबोध या समाधि है। किसी भी प्रकार के चिन्तन के सहित अन्त करण की स्थिति (वृत्तियुक्त अवस्था) समाधि नहीं है। समाधि 'अस्पर्शयोग' है, क्योंकि परिपक्व निर्विकल्प-समाधि में समस्त वृत्तियों का अत्यन्त विस्मरण हो जाता है, अन्तःकरण सच्चिदानन्द परमात्मस्वरूप में लवणोदक की तरह सम्यक् विलीन हो जाता है।

इसीलिए कहा गया है—"प्रशान्तवृत्तिकं चित्तं परमानन्ददीपकम्। असम्प्रज्ञातनामायं समाधिर्योगिनां प्रियः॥ प्रशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा॥" वृत्तिद्वारा आवरण के भङ्ग होने पर स्वप्रकाश प्रत्यग्ब्रह्म स्वयं अपनी महिमा में अवस्थित हो जाता है। यही सम्यक् या मुख्य ज्ञान है। ज्ञात आत्मा को 'मुख्य' ज्ञान या ज्ञानस्वरूप कहा गया है। 'वृत्तिज्ञान' साक्षी आत्मा का प्रतिबिम्ब है अतः वह 'गौण' ज्ञान कहा जाता है। प्रत्यक्ष-रूप में परिज्ञात प्रत्यगात्मा ही परिपूर्ण, अविनाशी यथार्थज्ञान है। वृत्तिज्ञान कतकरेणु के समान नष्ट हो जाता है—स्वप्रकाश सुखस्वरूप ब्रह्म ही प्रत्यग्रूप में परिशिष्ट रहता है। उसमें ज्ञानत्व गुण या लक्षण नहीं है, अतः उसे 'ज्ञातत्वोपलक्षितं' कहा जाता है। आवरणनाश के लिए वृत्तिरूप आत्मज्ञान (वेद्यता) की अपेक्षा होती है। निरावरण आत्मा

अवेद्य, अद्वितीय, स्वप्रकाश, प्रत्यक् सुखस्वरूप में विशेषरूप से अवस्थित होता है। तब उसमें ज्ञान अज्ञान, वेद्यता, अवेद्यता कुछ भी नहीं रहता।

जिनके अन्तःकरणों में आत्मबोध का प्रकाश उदित हो गया है, वे दूसरों के साथ व्यवहार करने के समय भी सर्वत्र ब्रह्मदर्शन ही करते रहते हैं। उनको जगत् कैसा भासित होता है, यह बतलाते हुए कहते हैं—

चिदाकारमिदं सर्वं जगदित्यवभावयन्।
यस्तिष्ठत्युपशान्तात्मा स ब्रह्मकवचः सुखी॥ २॥

'परिदृश्यमान समस्त जगत् ब्रह्मस्वरूप है' ऐसा निश्चय करके जिनका मन शान्त हो गया है, वे मानों ब्रह्म को कवचरूप में परिधान करके निरन्तर पूर्णानन्द में निमग्न रहते हैं। जिन्हें आत्मबोध प्राप्त हो गया है, वे सकल जगत् को और सब मनुष्यों को ब्रह्मस्वरूप ही देखते हैं। स्वयं ब्रह्म होकर समस्त विश्व को ब्रह्मरूप ही देखते हैं। इस प्रकार समदर्शन के फलस्वरूप वे सर्वदा सुखी रहते हैं। द्वैतदर्शन का सम्यक् अभाव हो जाने से तत्त्वज्ञानी को किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता, अतः वे सर्वदा निश्चिन्त और सुखी रहते हैं। 'सब त्रिपुटी मिथ्या है, उसका प्रकाशक साक्षी आत्मा ही एकमात्र सत्य है और वही मेरा निज स्वरूप है' ऐसा जो जानते हैं, वे सर्वत्र अभय ब्रह्म का दर्शन करते हैं और उनका अन्तःकरण सर्वदा शीतल रहता है।

अब जीवन्मुक्त पुरुष का पहला लक्षण बतलाते हैं—

सर्वातीतपदालम्बी पूर्णेन्दुशिशिराशयः।
यस्तिष्ठति सदा योगी स एव परमेश्वरः॥ ३॥

ब्रह्म के साथ चित्त को एक करके जो योगी स्थिर रहता है, वह परमेश्वर ही है, अन्य नहीं। वे ज्ञानी पुरुष ब्रह्मस्वरूप का ही आश्रय करते हैं – तल्लीन और तद्रूप होकर रहते हैं और पूर्ण चन्द्रमा के समान उनका चित्त शीतल हो जाता है। ज्ञानयोगी इस प्रकार शान्त ब्रह्म हो

जाते हैं। अन्तःकरण के साथ उनकी ग्रन्थि (अहंकार के साथ आत्मा का ऐक्यभ्रम) विनष्ट हो जाती है, वे निरहंकार साक्षिस्वभाव में स्थित रहते हैं। अतः वे सुखी, दुःखी, विकारी, प्रमाता, कर्त्ता, भोक्ता जीव नहीं, साक्षात् ईश्वर है। अन्तःकरण के साथ मिलकर, अन्तःकरण के अशेष विकारों से युक्त होकर परिच्छिन्न रूप में अवस्थित होना 'जीवभाव' कहा जाता है। ज्ञानवान् पुरुष अन्तःकरण के साक्षी ब्रह्म-पदार्थ में चित्त को विलीन करके स्थित होते हैं, इसीलिए उनका परिच्छिन्न जीवभाव (अहंकार-ग्रन्थि) समूल नष्ट हो जाता है और वे साक्षात् परमेश्वर ही हो जाते हैं।

जीवन्मुक्त पुरुष का दूसरा लक्षण बतलाते हैं—

ब्रह्मोपनिषदां तत्त्वं भावयन् योऽन्तरात्मना।
नाद्वेगी न च दुष्टात्मा संसारे नावसीदति ॥ ४ ॥

यहाँ 'हृष्टात्मा' ऐसा भी पाठान्तर देखा जाता है। जो लोग ब्रह्म-प्रतिपादक उपनिषदों के तत्त्व का हृदय में चिन्तन (निदिध्यासन) करके हर्ष-विषाद रहित हो जाते हैं, वे सांसारिक दुःखों से मुक्त हो जाते हैं। जिनका चित्त एकरस चिदात्मस्वरूप में स्थित नहीं होता, वे सब दुःखी ही रहते हैं, सुखी नहीं हो सकते। जिन्होंने उपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्म में अपनी बुद्धि को निश्चलरुप में स्थापित कर लिया है, वे ही जीवन्मुक्त और परमसुखी हैं। उनका मन सर्वदा स्वरूप के अनुसन्धान में स्वयं निमग्न रहता है। जिस प्रकार अग्नि अपनी उष्णता का कभी परित्याग नहीं करती, उसी प्रकार ज्ञानीजन भी दृढ़ संस्कार के बल पर अपने ज्ञात ब्रह्मभाव का परित्याग नहीं करते और न कर ही सकते हैं। जिस प्रकार ब्रह्म ब्रह्मभाव को छोड़ नहीं सकता, आत्मदर्शी भी उसी प्रकार प्रत्यग्रूप में परिज्ञात ब्रह्मस्वभाव का परित्याग नहीं कर सकते। स्वभाव अपरिवर्जनीय है, अतः ज्ञानी के लिए अपने निश्चित ब्रह्मस्वभाव का परित्याग करना सर्वथा असम्भव है।

जीवन्मुक्त की ब्रह्मात्म भावना संस्कार जन्य एवं सहज है। जो मुमुक्ष के लिए प्रयत्नसाध्य है, वह मुक्त पुरुष के लिए स्वाभाविक हो जाता है।

उद्वेग और हर्ष अन्तःकरण के विकार हैं। जो सुखस्वरूप साक्षी-तत्त्व में स्थित रहते हैं, जिनका अन्तःकरण विगलित होकर अधिष्ठान-स्वरूप में पर्यवसित हो जाता है, वे सर्वथा सुख और दुःख से अतीत हो जाते हैं। अनुकूल और प्रतिकूल उभयभावरहित (अन्तःकरण से अतीत) जो निज सुख (जीव का स्वभाव) है, वही स्वतः सर्वदा अनुभूत होता है। अन्तःकरणवृत्तिद्वारा जो सुख (प्रतिबिम्ब-आनन्द या विषयसुख) अनुभूत होता है, वह कृत्रिम एवं विनश्वर है। वृत्ति-व्यवधान के बिना जो आनन्द हृदय में साक्षात् अनुभूत होता है, वही आत्मसुख या निजानन्द है। आत्मवस्तु ज्ञानी पुरुष का प्रत्यक्ष परिज्ञात निजस्वरूप है। यद्यपि साक्षात्कारकाल में ब्रह्माकार में दृढ़ परिणत अखण्ड अन्तःकरण द्वारा सुखरूप आत्मा का अनुभव होता है, तथापि प्रत्यग्रूप में ज्ञात आत्मा में किसी प्रकार का अध्यास अवशिष्ट नहीं रहता। वह निज नित्य सुखरूप और निरन्तर स्वयं प्रकाशमान रहता है। तटस्थ दृष्टि में दृढ़ परिणत अन्तःकरण या आत्मज्ञानजनित संस्कार आत्मा में आरोपित होने पर भी ब्रह्मवेत्ता पुरुष असङ्ग, एकरस, अद्वितीय आत्मस्वभाव में ही स्थित रहते हैं। अपनी दृष्टि में वे कभी द्वैत जगत् नहीं देखते, यहाँतक कि 'वे नहीं देखते' यह भी पारमार्थिक सत्य नहीं है। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष अकर्ता और अभोक्तारूप में स्थित रहते हैं, अतः वे कर्म और अकर्म द्वारा लिप्त नहीं होते। उनकी देह और इन्द्रियों के सभी व्यापार प्रारब्धबलात् निष्पन्न होते हैं। वे पुण्य और पाप में उदासीन रहते हैं, निजरूप में बन्धन के हेतु होने पर भी पाप और पुण्य दोनों को वे अभिन्न, अधिष्ठान आत्मदृष्टि से देखते हैं।

यथा पर्वतमादीप्तं नाश्रयन्ति मृगद्विजाः।
तद्वद्ब्रह्मविदो दोषा नाश्रयन्ति कदाचन ॥ ५ ॥

जिस प्रकार अग्नि से प्रज्वलित पर्वत का पशु और पक्षी आश्रय ग्रहण नहीं करते, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानीपुरुष में काम-क्रोधादि दोष कदापि निवास नहीं करते। पूर्वकर्मसंस्कारवश (मन्द प्रारब्ध के कारण) तत्त्ववेत्ता पुरुष में राग, लोभ आदि कभी-कभी दिखलायी पड़ते हैं। संसारी मनुष्य की दृष्टि में ऐसा प्रतीत होने पर भी ज्ञानी की अपनी दृष्टि में अखण्ड अद्वितीय आत्मतत्त्व ही अनुभूत होता है, अज्ञान का नाश हो जाने से द्वैत-प्रपञ्च अत्यन्त बाधित हो जाता है। व्यावहारिक दृष्टि का अवलम्बन करके कहा जाता है कि अनेक जन्मों के अज्ञानजनित भ्रम के संस्कार इतने प्रबल होते हैं कि ज्ञानी पुरुष को भी प्रारब्ध कर्म का फल देहपात होने तक भोगना पड़ता है। बाण का वेग उतना ही होता है, जितनी उसमें पहले गति दी गयी होती है। ठीक इसी प्रकार अज्ञजनों को समझाने के लिए यह कहा जाता है कि जीवन्मुक्त पुरुष में भी अनेक पूर्वजन्मों के संस्कारवशात् कभी-कभी राग-द्वेषादि दिखलाई पड़ते हैं। प्रत्यग्रूप में परिज्ञात स्वप्रकाश सहज-सुखरूप आत्मतत्त्व में क्रोध-लोभादि का वस्तुतः कोई अवसर नहीं रह जाता।

असन्त इव सन्तोऽपि कोपयन्ति परं नरम्।
निजकर्मगुणोदारपरिपाकं परीक्षितुम्॥ ६॥

अज्ञानी के समान ज्ञानी दूसरे पुरुष को क्रुद्ध करता है। अज्ञानी को क्रोध में अभिमान (आसक्ति) रहता है, ज्ञानी शीतल अन्तःकरण होते हुए भी ऐसा आचरण करता है, जिससे अन्य मनुष्य क्रुद्ध हो जाय। तत्त्वज्ञ ऐसा आचरण इसलिए करता है कि फलीभूत अपने कर्मों (प्रारब्ध) की परीक्षा हो जाय। अर्थात् दूसरे लोगों के क्रुद्ध होने पर जैसे अज्ञजन आसक्तिरूप बन्धन को प्राप्त होते हैं, वैसे मुझे भी कर्माचरण के फलस्वरूप बन्धन होगा या नहीं, यह जानने के लिए वह वैसा आचरण करता है। फलतः ज्ञानी पुरुष कर्मबन्धन को प्राप्त नहीं होते। वे न तो सम्मान से हर्षित होते और न निन्दा से दुःखित

ही। शान्ति, तितिक्षा, दया, क्षमा उनकी सहजसिद्ध दैवी-सम्पत् है। प्रारब्धवशात् ज्ञानी चाहे जैसा भी आचरण क्यों न करें, उनसे अन्य लोग तुष्ट या क्रुद्ध क्यों न हों, ज्ञानी सर्वदा मुक्त रहते और परिज्ञात आत्मा के सहज स्फुरणरूप निजानन्द में नित्य निरन्तर स्थित रहते हैं। 'सर्वदा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते' यह गीता की उक्ति है।

ज्ञात्वाऽप्यसर्पं सर्पोत्थं यथा कम्पं न मुञ्चति।
विध्वस्ताखिलमोहोऽपि मोहकार्यं तथाऽऽत्मनि ॥ ७ ॥

जैसे रज्जु का ज्ञान होने पर भी सर्पजनित भय कुछ कालतक बना रहता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान से सम्पूर्ण अज्ञान के नष्ट हो जाने पर भी जीवन्मुक्त पुरुष में जबतक शरीरपात नहीं होता तब तक कभी-कभी अज्ञान के कार्य (काम, क्रोध, लोभ आदि) अनुवृत्त देखे जाते हैं। यह बाह्य दृष्टि के अनुसार कहा गया है। सर्पजनित भय जैसे क्रमशः कम हो जाता है, अनुवृत्तिकाल में भी रज्जुस्वरूप का निश्चय दृढ़ आन्तरिक त्रास उत्पन्न नहीं होने देता, वैसे ही मन्द प्रारब्धवश तत्त्वज्ञ के राग-लोभादि दृष्टिगोचर हों, तो भी वे उनके हृदय में स्थान प्राप्त नहीं करते-आत्मनिश्चय में व्यतिक्रम नहीं कर सकते, किन्तु देह तथा इन्द्रियों के व्यापारमात्र में पर्यवसित होते हैं। जबतक उपाधि (शरीर या प्रारब्ध) विद्यमान रहती है, तबतक ईश्वरनियतिवशात् फलोन्मुख कर्मों का वेग (काम, क्रोध आदि) अवश्य ही उपस्थित होगा, किन्तु इससे ज्ञानी को किसी भी प्रकार कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अध्यास प्राप्त न होगा। शक्नोतीह व: सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्' आदि गीता वाक्य इस विषय में प्रमाण हैं। वृन्त (शाखाग्र) से च्युत फल जैसे पुनः वृन्त से युक्त नहीं हो सकता, ठीक वैसे ही अहम्भ्रम (अन्तःकरण के साथ तादात्म्याध्यास) से विनिर्मुक्त अपना साक्षी आत्मा किसी भी प्रकार देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और अहङ्कार में अभिमान (आसक्ति) नहीं कर सकता। मरुमरीचिका ज्ञानी के शारीरिक कर्म या काम-क्रोधादिजनित चेष्टाएँ आदि सोपाधिक भ्रम के उदाहरण हैं।

उपाधिसम्बन्धी विकार या बन्धन उपहित वस्तु में प्राप्त नहीं होते, यह दिखलाते हुए कहा जाता है—

स्फटिकः प्रतिबिम्बेन यथा नायाति रञ्जनम् ।
तज्जज्ञः कर्मफलेनान्तस्तथा नायाति रञ्जनम् ॥८॥

जिस प्रकार निर्मल स्फटिक जपाकुसुम का प्रतिबिम्ब ग्रहण करके भी वस्तुतः लाल नहीं बन जाता, उसी प्रकार ज्ञानीद्वारा किये गये कर्म दृष्टिगोचर होने पर भी ज्ञानी उनसे बद्ध नहीं होते (पाप-पुण्य-कर्मफल नहीं भोगते), क्योंकि अज्ञान का नाश हो जाने से वे अपने असङ्ग, अशरीर सनातन ब्रह्मभाव को प्राप्त रहते हैं। शुद्ध साक्षी आत्मा भ्रम से कल्पित (सांकल्पिक दृश्य) पदार्थ में लिप्त या आसक्त नहीं हो सकता। ज्ञानी अज्ञाननिरसन द्वारा अपना ब्रह्मस्वभाव प्राप्त कर लेते हैं, अतः वे असत्य कर्मफल में आसक्त कैसे हो सकते हैं ? यह यथार्थ या पारमार्थिक दृष्टि है। गीता में भी 'कुर्वन्नपि न लिप्यते', कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्, 'न हन्ति न निबध्यते' इत्यादि वचनों द्वारा यही तात्त्विक दृष्टिकोण प्रकटित हुआ है। जीवन्मुक्त का तीसरा लक्षण बतलाते हैं—

अन्तर्मुखतया तिष्ठन् बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन् ।
परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ॥ ९ ॥

बाह्य इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण करके भी ज्ञानी अपने निर्विकार साक्षीस्वभाव में स्थित रहते हैं और सर्वदा निद्रितकी तरह लक्षित होते हैं; क्योंकि जाग्रद्दशा में भी वे सांसारिक ताप से निवृत्त रहते हैं। देहेन्द्रियादि द्वारा व्यवहार करने के समय भी आत्मवेत्ता अपने कूटस्थ में ही उसी प्रकार स्थित रहते हैं, जिस प्रकार आकाश सर्वदा अवकाश-स्वरूप में ही अवस्थित रहता है। मन में कर्तृत्व का अभिमान उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उनका मन ब्रह्म में विलीन (ब्रह्मरूप) रहता है।

व्यवहारदृष्टि से भासमान देह, इन्द्रिय एवं मन के समस्त व्यापार मायिक और मिथ्या हैं, उनमें ज्ञानी को कोई अभिमान नहीं होता। स्वयम्प्रकाश निजानन्द में नित्य निमग्न रहने से ज्ञानी व्यवहारदृष्टि से देहधारी होता हुआ भी वास्तव में देहरहित है। वह सारे लौकिक-वैदिक कर्म करता हुआ भी कर्मफल से अलिप्त रहता है। वह कर्तृत्वाध्यास को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि निज ज्ञात ब्रह्मस्वरूप में कर्ता, कर्म, करण आदि त्रिपुटीरूप द्वैत पदार्थ का कोई प्रसङ्ग नहीं है। जिस प्रकार निद्रालु पुरुष निद्रासुख में निमग्न रहता है, उसी प्रकार ज्ञानी कर्तृत्वाभिमानरहित, निज साक्षीस्वरूप में सर्वदा अनायास स्थित रहता है।

जीवन्मुक्त का चौथा लक्षण बतलाते हैं—

अद्वैते स्थैर्यमायाते चित्ते च प्रशमं गते।
योगिनः कर्मकुर्वन्ति पश्यन्ति स्वप्नवज्जगत्॥ १०॥

चित्त में शान्ति प्राप्त हो जाने और इसीलिए ब्रह्म में स्थिरता प्राप्त हो जाने पर भी योगिजन जगत् को स्वप्नप्रपञ्च के समान देखकर कर्म करते रहते हैं। ब्रह्मज्ञान से जिन्हें आत्मसाक्षात्कार हो गया है, वे कर्म करने पर भी बन्धन को प्राप्त नहीं होते। योगिजन अपने अद्वैत स्वरूप में सर्वदा अटल स्थित रहते हैं। उनके अन्तःकरण में किसी भी तरह द्वैतबुद्धि जागृत नहीं होती, चित्त सदा शान्त और निर्मल रहता है। मन में किसी प्रकार का संशय नहीं रहता। ऐसी स्थिति में जीवन्मुक्त पुरुष समस्त जगत् को स्वप्नतुल्य मिथ्या जानकर केवल पूर्वसंस्कार के अनुरूप सब कर्मों का यथाविधि आचरण करते रहते हैं। यद्यपि वे यथासमय विहित कर्मानुष्ठान करते हैं और निषिद्ध कर्मों का त्याग करते हैं, तथापि उनके मन में ऐसा संकल्प नहीं उठता कि विधियुक्त कर्माचरण के फलस्वरूप या निषिद्ध कर्मों के परित्याग से पुण्य प्राप्त होगा। इसका कारण यही है कि वे चित्तशुद्धि के लिए अनेक जन्मों से सत्कर्मों का आचरण और निषिद्ध कर्मोंका परिवर्जन

करते आ रहे हैं। परिणामस्वरूप उनका चित्त जब पूर्णरूप से शुद्ध हो जाता है, तब स्वीय आत्मस्वरूप का यथार्थज्ञान उत्पन्न होता है। उनके निर्मल हृदय में आत्मबोध का प्रकाश उदित होता है और ज्ञानप्राप्ति के उपरान्त भी उनका आचरण अनेक जन्मों से अनुष्ठित सत्कर्मों के संस्कारबलात् पूर्ववत् उत्तम एवं शास्त्रानुयायी होता रहता है।

प्रबल (मन्द) प्रारब्धवशात् कदाचित् कोई अनुचित कर्म या निषिद्धाचरण हो भी जाय, तो भी तत्त्वज्ञ को उसमें अभिमान न होने से वे अन्तर में मुक्ति का ही अनुभव करते हैं और देहपात हो जाने के उपरान्त पुनः जन्म ग्रहण नहीं करते। जीवित दशा में सुख-दुख, मान-अपमान में वे सर्वदा समचित्त रहते हैं और शान्ति एवं शीतलता का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। बाहर से शरीर और इन्द्रियों द्वारा प्रारब्ध कर्म का विचित्र फल भोग लेते हैं।

अद्यैव मरणं वाऽस्तु कल्पान्तनिचयेन वा।
तज्ज्ञः कलङ्कं नाऽऽप्नोति हेम पङ्कगतं यथा॥ १९॥

सदेह दिखलाई पड़ने पर ज्ञानी वस्तुतः देहरहित होता है। जीवन्मुक्त पुरुष को देहत्याग के अनन्तर अधिक कुछ प्राप्तव्य नहीं रह जाता। देहसहित होने पर भी उसके निज ब्रह्म स्वरूप में कुछ भी न्यूनता नहीं रहती। जीवन्मुक्त विदेहमुक्त होने की आशा नहीं करता, सदेह अवस्था में उसे-अकर्म की किसी प्रकार की बाधा (बन्धन) नहीं रहती, क्योंकि अपरोक्ष साक्षात्कार के फलस्वरूप वह स्वय निर्विकार ब्रह्मरूप हो जाता है। यही बात इस श्लोक में बतलायी गयी है कि आज ही मरण आ जाय या चाहे कल्पान्ततक जीवन रहे, ज्ञानी कभी बन्धन को प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार सुवर्ण कीचड़ में फेंक दिये जाने पर भी अशुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी भी जीवन-मरण से बद्ध नहीं हो सकता। जीवन्मुक्त का देहनाश वर्त्तमानसमयमें ही हो जाय, चाहे कोटिकल्पों के अन्त में, इससे उसे किसी प्रकार का हानि-

लाभ नहीं। वह निरन्तर ब्रह्मस्वरूप ही रहता है। यह तो हो ही नहीं सकता कि यदि उनका शरीर दीर्घकालपर्यन्त जीवित रहे, तो उन्हें पाप प्राप्त होगा या वे कर्तृत्वाभिमानी हो जायँगे। परन्तु उनका शरीर यदि शीघ्र नष्ट हो जाय, तो पाप और कर्तृत्वाभिमानरूप दोष से वे मुक्त रहेंगे। सारांश यही कि जीवन्मुक्त पुरुष सदेह रहे या विदेह, दोनों अवस्थाओं में वे केवल ब्रह्मरूप ही स्थित रहते है।

चित्तवृत्ति की उपशम-दशा में (चौथी, पाँचवीं या छठी ज्ञान-भूमिका में जबकि आत्माकारवासना या ज्ञानसंस्कार चित्त में अनुवृत्तक रहता है) या निर्वाण अवस्था में (सातवीं ज्ञानभूमिका में, जबकि ब्रह्मज्ञानका संस्कार या ज्ञेयवासना भी निवृत्त हो जाती है) योगी देहधारी होता हुआ भी वास्तव में देहवर्जित ही रहता है। यद्यपि वे देह के साथ व्यवहार में स्थित रहकर अनेक कर्म करते है, तथापि निवारण स्वप्रकार निज साक्षीरूप में निःसङ्ग ही रहते है। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए शुद्ध सुवर्ण का दृष्टान्त दिया गया है। शुद्ध सुवर्ण कीचड़ में पड़ा रहकर भी वास्तव में कर्दमलिप्त नहीं हो जाता, अपने शुद्ध स्वरूप में ही विद्यमान रहता है। इस सम्बन्ध में अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। कमलपत्र जल में रहता हुआ भी, अलिप्त रहता है। मेघ या धूम्र से आच्छादित आकाश निर्मल स्वभाव में ही स्थित रहता है। इसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष सदेह होता हुआ भी, देहसम्बन्धी समस्त व्यवहारों का निर्वाह करता हुआ भी, देहातीत रहता है; क्योंकि वह सर्वदा निज शुद्ध आत्मस्वरूप में ही निमग्न रहता है। जो पूर्णब्रह्म के अनुभव में सदा मग्न रहते हैं, वे 'तज्ज्ञ' कहे जाते हैं। ऐसे ब्रह्मज्ञ पुरुष को देहसंस्पर्श से किसी प्रकार की मलिनता प्राप्त नहीं होती।

जीवन्मुक्त के शरीर द्वारा सत्कर्म सम्पादित हों, चाहे असत्कर्म, उनका देहपात तीर्थस्थान में हो या अपवित्र चाण्डालगृह में, इससे उनकी कोई क्षति-वृद्धि नहीं होती। यही बतलाते हुए कहा गया है—

तनुं त्यजतु वा काश्यां श्वपचस्य गृहेऽथवा ।
ज्ञानसम्प्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशयः ॥१२॥

तत्त्वज्ञ पुरुष काशी में देहत्याग करें या चाण्डाल के घर में, वे मुक्त ही हैं, क्योंकि ज्ञानप्राप्ति के समय ही उनका चित्त (लिङ्ग-शरीर) नष्ट हो जाता है। मूलाविद्या और अन्तःकरण के साथ तादाम्याध्यास के नष्ट हो जाने से जीव मुक्त हो जाता है; सुतरां स्थूलदेह के साथ उसका कोई सम्बन्ध रहीं रहता। ज्ञानीजन स्वयम्प्रकाश अद्वैत आनन्दस्वरूप में निमग्न रहने से सर्वदा मुक्त रहते हैं। सत्सङ्ग या सदाचरण से उनकी महत्ता नहीं बढ़ती और न दुर्जनसमागम अथवा असदाचार से उनकी ब्रह्मस्थिति में कोई हानि ही होती है। वे सर्वदा देहातीत एवं साक्षीरूप में स्थित रहते हैं। शुभाशुभ की प्राप्ति देहाभिमानी जीव को ही होती है, जीवन्मुक्त के समस्त द्वैतभाव नष्ट हो जाने से शरीरके साथ उनका कोई सम्पर्क नहीं रहता। जैसे वृक्ष का पत्ता नदी में गिरे या मन्दिर में, इससे वृक्ष को कोई शुभ या अशुभ प्राप्त नहीं होता, वैसे ही देह, इन्द्रिय, प्राण और मन के विनाश में ज्ञानी के निज आत्मस्वरूप का कुछ आता-जाता नहीं।

ज्ञानी की समस्त आत्मवासनाएँ शान्त (निवृत्त) हो जाती हैं और उनका मन आत्मस्वरूप में लीन हो जाता है। मन का मनोभाव नष्ट हो जाने से ज्ञानी सकल आशा-पाशों से मुक्त हो जाते हैं। उस अवस्था में उनका मन छठी ज्ञानभूमिकापर्यन्त तटस्थ दृष्टि से रहने पर उसे 'सरूप मनोनाश' कहा गया है। वास्तव में वे मनरहित ही हो जाते हैं। जीवन्मुक्त पुरुष की दृष्टि में सभी दृश्य पदार्थों का अभाव हो जाता है। दूसरों की दृष्टि में वे कर्ता होते हुए भी वास्तव में अकर्ता और भोक्ता होते हुए भी तत्त्वतः अभोक्ता रहते हैं। वे सब प्राणियों को आत्मरूप देखते और उन्हें प्रकाशक एवं अधिष्ठान

आत्मस्वरूप से अभिन्न समझते हैं। उनकी दृष्टि से अखिल प्रपञ्च अपने में और अन्य सभी एकमात्र ब्रह्म में प्रतीत होते हैं। सदेह अवस्था में भी वे स्वयं ब्रह्मरूप हैं। देहनाश के उपरान्त उन्हें अधिक कुछ प्राप्त नहीं होता। वे सभी अवस्थाओं में ब्रह्मरूप ही रहते हैं। अज्ञानी भी यद्यपि सर्वदा ब्रह्मरूप ही है, तथापि स्वरूप का परिज्ञान न होने से वह अपने को विकारी और विनश्वर जीव समझता है।

जीवन्मुक्त पुरुषों की ब्रह्मस्थिति स्वयं सिद्ध हुआ करती है, उनमें निम्नलिखित लक्षण मिलते हैं —

गोष्पदं पृथिवी मेरुः स्थाणुराकाशमुद्रिका।
तृणं त्रिभुवनं राम नैराश्यालङ्कृताकृतेः ॥ १३ ॥

जो सभी आशाएँ छोड़कर शोभितहोते हैं, उन तृष्णारहित पुरुषों की दृष्टि से पृथिवी गोष्पद के समान, मेरुपर्वत स्तम्भ के समान, आकाश क्षुद्र अंगूठी के समान और त्रिभुवन तृण के समान अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होता है। सारांश जो सर्वथा वितृष्ण हो गये हैं, वे ही श्रेष्ठ हैं। उनकी दृष्टि में सभी अनात्म-वस्तुएँ असत्य हो जाती हैं। आत्मस्वरूप में रसानुभव होते-होते जीवन्मुक्त पुरुष को (क्रमशः छठी ज्ञानभूमिका में) ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है कि उसकी दृष्टि में किसी अन्य पदार्थ का भान ही नहीं रह जाता। मन और बुद्धिसहित अहंकार आत्मस्वरूप में लीन हो जाता है। काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर, दम्भ आदि कोई विकार उसके शुद्ध अन्तःकरण का स्पर्श तक नहीं कर सकते और घट-पटादि किसी दृश्य पदार्थ का स्मरण भी पदार्थाभाविनी भूमिका में नहीं रह जाता।

इस अवस्था में योगी ब्रह्मानन्द में निमग्न होते हैं, यही बतलाते हैं-

अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे।
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ॥ १४ ॥

ज्ञानी पुरुष शून्य कुम्भ के समान-भीतर-बाहर शून्य हो जाते हैं

और समुद्रस्थित जलपूर्ण घट की तरह भीतर-बाहर पूर्ण हो जाते हैं। और अपने आत्मस्वरूप द्वारा सर्व देश, काल और वस्तु पूर्ण रहने से ज्ञानी सर्वदा परिपूर्ण ही स्थित रहते हैं। अनात्मप्रपञ्च सर्वदा असत्य होने के कारण वे दृश्यसंस्पर्शरहित या शून्य के समान स्थित होते हैं। ज्ञानी पुरुष निरहंकार स्थित रहते हैं। अतः भीम, भास और दृढ़ के समान वे जहाँ कहीं भी जायँ, उनका चित्त परब्रह्म में निमग्न रहता है। इसलिए उन्हें सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्मदर्शन ही हुआ करता है। 'सकलमिदमहञ्च वासुदेवः परमपुमान्' यही उनके सहज अनुभव में आने से प्रत्यगभिन्न स्वयम्प्रकाश ब्रह्म ही सर्वदा स्फुरित रहता है।

जीवन्मुक्त पुरुष का एक और भी लक्षण बतलाया जाता है —

ईप्सितानीप्सितौ न स्तो यस्यान्तर्वस्तुदृष्टिषु।
यः सुप्त इव ह्याचरति स मुक्त इति कथ्यते ॥ १५ ॥

यहाँ 'सुप्त इव प्रवर्तते' और 'चरेत् सुषुप्त इव यः' ऐसे पाठान्तर दिखलाई पड़ते हैं। अर्थात् पदार्थ-दर्शनकाल में जिन्हें 'यह मेरा इष्ट है, यह अनिष्ट है' ऐसी कल्पना स्फुरित नहीं होती, सुतरां जो सुप्त पुरुष के समान व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, अर्थात् सुप्त मनुष्य को जैसे अभिलाष-अनभिलाष कुछ भी स्फुरित नहीं होता वैसे ही जिनकी प्रिय-अप्रिय बुद्धि निवृत्त हो जाती है, वे मुक्त ही हैं। संसारी मनुष्य की दृष्टि बाह्य होती है, किन्तु जीवन्मुक्त पुरुष को अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। वह निरन्तर आत्मविलास में ही निमग्न रहता है। उसकी दृष्टि में न कोई पदार्थ इष्ट होता है, न अनिष्ट ही। जब कोई वस्तु अपने से भिन्न प्रतीत होती है, तभी वह इष्ट होती है और उसमें आदरबुद्धि उत्पन्न होती है। तथाच जब उस इष्ट पदार्थ की प्राप्ति में विघ्नकारक कोई वस्तु अपने से पृथक् प्रतीत होती है, तब वह वस्तु अनिष्ट प्रतीत होती है और उसे द्वेषबुद्धि उत्पन्न होती है। परन्तु जीवन्मुक्तपुरुषों को सकल ब्रह्माण्ड में भीतर-बाहर सर्वत्र

आत्मस्वरूप के सिवा अन्य कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। उनकी दृष्टि में समस्त जगत् ब्रह्ममय ही हो जाता है। इसलिए वे सर्वदा निरतिशय आनन्द में निमग्न रहते हैं। अतएव उनकी दृष्टि में इष्ट एवं अनिष्ट का भेदभाव प्रतीत होना नितान्त असम्भव है।

तात्पर्य यह कि जीवन्मुक्त पुरुष सर्वदा इच्छारहित होता हुआ भी निद्रित मनुष्य की तरह देह, इन्द्रिय आदि के सभी व्यवहारों का सम्पादन करता रहता है। अज्ञान के कारण मनुष्य अनात्मरूप मन, बुद्धि, चित्त, इन्द्रिय आदि के व्यापारों में अभिमान करके ('मैं यह करता हूँ ऐसा अहंकार उत्पन्न करके) कर्तृत्व का भार अपने ऊपर ले लेता है। आत्मा के आभास से संयुक्त (आत्मा में कल्पित) इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि के देखना-सुनना, श्वास-प्रश्वास लेना, संकल्प-विकल्प या सुख-दुःख का निश्चय करना आदि भिन्न-भिन्न व्यापार में अध्यासवशात् आसक्त होकर प्राणी सुखी, दुःखी विकारी बन जाता है और इसलिए हर्ष, शोक, मान-अपमान आदि द्वन्द्वभावों का फल भोगता है। आत्मज्ञान के उदय से अध्यास समूल नष्ट हो जाता है। विशुद्ध अन्तःकरण में आत्मज्ञान का पूर्ण प्रकाश उदित होने पर मनुष्य अज्ञानजनित अहंकार बन्धन से सर्वथा मुक्त होकर केवल आत्मस्वरूप हो जाता है—स्वयम्प्रकाश सुखरूप साक्षीभाव में सर्वदा अवस्थित रहता है। यद्यपि बाहर से देखने पर ज्ञानी देहधारी प्रतीत होता है, तथापि वह वास्तव में अशरीर और अहंकारशून्य आत्मा है। मूर्ख दाम, व्याल और कटके समान वह परिछिन्न असत्य जीव को निजस्वरूप नहीं समझता। जैसे स्वप्न का शरीर, देहादि की चेष्टाएँ और तदभिमानी स्वाप्निक जीव नितान्त मिथ्या हैं, वैसे ही अज्ञान में दृष्ट जाग्रत्कालीन प्रपञ्च और व्यावहारिक जीव सभी असत्य है। 'न त्वं नाहं नायं लोकः', 'न च त्वं न चाहं न चायं प्रपञ्च', 'स्वानन्दैकरसे निमग्नमनसां न त्वं न चाहं जगत्' आदि इस सम्बन्ध में समर्थक आचार्योक्तियाँ हैं। जीवन्मुक्त का मन सब संकल्प विकल्पों

से अतीत होकर परमात्मा में लीन हो जाता है। फलस्वरूप वे अद्वय आत्मब्रह्म के साथ पूर्णरूप से एक हो जाते हैं। उनकी चित्-अचित् की ग्रन्थि (परिपूर्ण, साक्षी आत्मा की अहम्भाव-प्राप्ति) नष्ट हो जाती है और वे जड़-चैतन्य के (प्रमेय, प्रमाता, प्रमाण आदि समस्त त्रिपुटीभाव के) साक्षात् प्रकाशक, असङ्ग, अद्वितीय निजस्वरूप में स्थित रहते हैं। वे दृश्य त्रिपुटीरूप समस्त भेदभाव को निज निर्विकार ज्ञानस्वरूप में कल्पित देखते हैं और परिपूर्ण आत्मस्वरूप में स्थित रह कर समस्त सन्देहों से मुक्त हो जाते हैं। उनकी अहम्भावना ('मैं अमुक हूँ' ऐसी बुद्धि) बिलकुल नष्ट हो जाती है और वे सर्वदा निर्वासनिक स्थित रहते हैं। फलस्वरूप वे चित्रस्थित दीप के समान-वास्तव में स्वप्नमानव की तरह--मिथ्या हो जाते हैं।

यही अर्थ अग्रिम श्लोक में विशदरूप से बतलाया गया है--

निर्ग्रन्थिः शान्तसन्देहो जीवन्मुक्तः स्वभावतः।
अनिर्वाणोऽपि निर्वाणश्चित्रदीप इव स्थितः॥ १६॥

जीवन्मुक्तों का अहम्भाव विगलित और सभी सन्देह निवृत्त हो जाते हैं। निरन्तर अन्तर में निज स्वरूप ब्रह्म भासमान रहने के कारण वे स्वभावतः प्रकाशशील, किन्तु अन्य लोगों की दृष्टि में चित्रदीप के समान प्रशान्त (अस्तंगत, प्रकाशरहित) स्थित रहते हैं। चित्रदीप सम्बन्धी दृष्टान्त का तीसरा अभिप्राय यह है कि यद्यपि ज्ञानी साधारण मनुष्य के समान देहेन्द्रियादिद्वारा सभी व्यवहार निष्पन्न करते हैं—ऐसा मालूम पड़ता है, तथापि उनका अन्तःकरण आत्मस्वरूप में सर्वदा स्थिर और निश्चल (एकीभूत) रहता है। [इस श्लोक के साथ १४ वाँ श्लोक भी देखिये]।

जीवन्मुक्त का एक लक्षण और इस प्रकार बतलाया गया है—

अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः।
तिष्ठति ध्येयसन्त्यागी जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ १७॥

जो अहंकार से उत्पन्न वासना का अनायास त्याग करके और ध्येय विषय का भी परिवर्जन करके सर्वदा आत्मस्वरूप में स्थित रहते हैं, वे जीवन्मुक्त हैं। जो अहंकारमय सकल वासनाओं (भोग-वासना, भेदवासना) का त्याग करके फिर पदार्थवासना का भी वर्जन करते हैं अर्थात् ध्याता अहंकार, विषयचिन्तनरूप ध्यान और ध्येय भोग्यपदार्थ, इस त्रिपुटी को स्फुरित होने न देकर उसके प्रकाशक और अधिष्ठान साक्षीचैतन्य में उसका विषय सम्पादन करके अन्तः करण-विकारों के साथ संसर्गाध्यास और आत्मा में अनात्मा के स्वरूपाध्यास का त्याग करके अन्त में परिशिष्ट, स्वप्रकाश, सुखरूप प्रत्यागात्मा में स्थित होते हैं, वे ही जीवन्मुक्त हैं।

'योगवाशिष्ठ' में अनात्मविषय को 'ध्येय' अनात्मवासना को 'ध्येयवासना' परमात्मा को 'ज्ञेय' और 'अहंब्रह्म' ऐसे दृढ़ ज्ञान को (ज्ञान के संस्कार को) 'ज्ञेयवासना' कहा गया है। जीवन्मुक्त पुरुष में ध्येयवासना नहीं रहती। किन्तु ज्ञयवासना और तज्जन्य मैत्री, करुणा, मुदिता उपेक्षा आदि उत्तम गुणावली और समस्त दैवी-सम्पत् विद्यमान रहती है। विदेह-मुक्तिकाल में या सातवीं ज्ञान-भूमिका में चित्तनिर्वाण हो जाता है, अतः ब्रह्माकार सहज वृत्ति या ज्ञेयवासना भी उस समय नष्ट हो जाती है। मनोनाश दो प्रकार का है जीवन्मुक्त में 'स-रूप मनोनाश' और विदेहमुक्त में 'अ-रूप मनो-नाश' होता है। त्रिपुटी के परित्याग में अपने में ध्यातृभाव और दूसरे में ध्येयविषय का चिन्तन छोड़ देने पर स्वतः ही साक्षी आत्मा के साथ अपना ऐक्यानुभव सम्भव होता है। 'त्रिविध चिदाभासरूप त्रिपुटी दृश्यमात्र है, उसका विलय होने पर वह असत्य है' ऐसा जान लेने पर अपने शुद्ध प्रत्यक्स्वभाव में स्वयं स्थित हो जाता है। त्रिपुटी का परिवर्जन होने पर प्रमाता ज्ञानस्वरूप आत्मा का 'यह मैं हूँ' इस रूप में प्रत्यक्ष अनुभव कर लेता है।

अन्तःकरण में ध्येय, ध्याता और ध्यानरूप त्रिपुटी का स्फुरण

बन्द होने पर अहंकारमय सकल वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं। समस्त ध्येय विषय मायिक और असत्य है, यह शास्त्र तथा युक्ति की सहायता से जानकर फिर विचार द्वारा निःसन्दिग्धरूप में दृढ़ निश्चय करके साक्षीभास्य अनात्मकल्पना (ध्यान) का प्रयत्नपूर्वक वर्जन करने पर ध्याताभाव हृदय में उत्थित नहीं होता। संसर्गाध्यास के शिथिल होने पर स्वरूपाध्यास और तादात्म्याध्यास निदिध्यासन एवं साक्षात्कार से नष्ट हो जाते हैं। अविद्याकृत दृश्य यदि हृदय में स्फुरित न होने पाये, तो अन्तःकरणभाव (व्यष्टि ध्येयवासना) जागरूक नहीं होने पाती। फलस्वरूप त्रिविध चिदाभास (त्रिपुटी) उत्पन्न नहीं होता। जीव स्वयं क्षण-क्षण में साक्षिस्वभाव में स्थित होता है। इसके उपरान्त आत्मध्यान और समाधि के अभ्यास से स्वरूपाध्यास और अज्ञानावरण विनष्ट हो जाते हैं। मन में जब कोई संकल्प उठता है, तब वह 'अहं' (मैं) इस भाव से वेष्टित रहता है, अहंकार के बिना कोई वासना उत्पन्न नहीं हो सकती। अज्ञान के कारण निर्विकार साक्षीभाव में स्थित अपने में जो परिच्छिन्न अहम्भाव उत्पन्न होता है, वह 'अहंकार' कहा जाता है। इस अहंकार का उत्थान होते ही मन में संकल्प का उदय होता है और उस संकल्प को पूर्ण करने की इच्छा होती है। यही 'काम-रूप' वासना कही जाती है। जिन सब संकल्पों के कारण संसाररूप वृक्ष बढ़ता है, वे अन्त में अहंकार के गर्भ में ही लीन रहते हैं और वासनानुसार पुनः उत्थित होते हैं। अपने शान्त ब्रह्मस्वरूप में अज्ञान से समष्टि-संवेदन स्फुरित होता है, संवेदन से भावना (समष्टि प्रमातृभाव) उठती है, भावना से समष्टिवासना जगती है और व्यष्टि-वासना से व्यष्टि-कल्पना का उदय होता है। इसके विपरीत क्रमशः समष्टि प्रमातृ-भाव का और फलतः वेदन या जानने के समष्टि-स्फुरण का निरोध सिद्ध होने पर अन्त में शान्त आत्मस्वभाव ही स्वयं अनुभव में आ जाता है। ज्ञानस्वरूप शान्त ब्रह्म में 'जानना' रूप समष्टि-स्फुरण समष्टि अहम्भाव की पूर्ववर्ती अवस्था है। समष्टि अहम्भाव से

साक्षी ज्ञानस्वरूप आत्मस्वरूप में संवेदनरूप स्पन्दन भी नहीं है। जाग्रदवस्था में दिनभर मनुष्य अनेक प्रकार के संकल्प करता रहता है। वे सब संकल्प अहंकार में सञ्चित होते हैं और स्वप्नकाल में वासनारूप में प्रकट होते हैं। स्वप्न से जागने पर यह अहम्भाव और भी प्रबल हो जाता है और पूर्वकालीन संस्कार के कारण वासना-समूह भी अत्यन्त तीव्र हो उठता है। इस प्रकार मनुष्य अहंकार-जनित वासनाओं के अधीन होकर अनवरत जन्म-मरण भोगता है। बाह्य क्रिया से अन्तर में भावना या चिन्तन होता है और उस चिन्तन से संस्काररूप विषयवासना उत्पन्न एवं अभिवृद्ध होती है। निष्काम कर्म और भगवद्भक्ति, आत्मविचार, निदिध्यासन तथा परिपक्व निर्विकल्प समाधि के अभ्यास से अहंकारसहित समस्त वासनाओं का क्षय सम्पन्न होकर जीव मुक्त हो जाता है।

दूरे मुञ्चति बन्धुमन्धमिव यः सङ्गाद्भुजङ्गादिव
त्रासं यो विदधाति वेत्ति सदृशं भोगाच्च रोगञ्च यः।
स्त्रैणे यस्तृणवद्घृणां प्रकुरुते मित्रेष्वमित्रेष्वपि
स्वान्तं यस्य समं समंगलमिहामुत्रापि मर्त्योऽश्नुते ॥१८॥

जो बन्धुवर्ग का अन्धकूप के समान दूर से त्याग करते हैं, जो सर्प की तरह जनसंग से डरते हैं, जो रोग और भोग को तुल्य देखते हैं, जो स्त्रियों को तृण के समान जानकर घृणा करते हैं और जिनका चित्त शत्रु-मित्र में समान रहता है, वे इसी लोक में मुक्तिसुख प्राप्त करते हैं। साधनकाल में जो प्रयत्नपूर्वक अभ्यस्त किया जाता है, परिपक्व दशा में यह सहजसिद्ध एवं स्वाभाविक हो जाता है। साधनावस्था में ही मुमुक्षु अधिकारी को विषयभोगों का त्याग करना पड़ता है, अतः ज्ञानप्राप्ति के उपरान्त भी विषयभोगों में उनकी स्वाभाविक अनिच्छा दिखलाई पड़ती है। शत्रु और मित्र दोनों पर उनकी समान आत्मबुद्धि होती है, क्योंकि उनके हृदय में भेदभाव का कोई स्थान ही नहीं रहता। जो वैराग्यबलात् स्त्री, पुत्र, स्वक्,

वित्त, बन्धु, मित्र आदि का सङ्ग सर्पसङ्ग की तरह मानकर और स्रक्, चन्दन, वनिता आदि सकल प्रकार के भोगों को रोगतुल्य जानकर परित्याग कर देते हैं, उदासीन हो जाते हैं. भोगों की इच्छा भी नहीं करते और उनमें द्वेषबुद्धि भी नहीं करते—क्योंकि असत्य विषयों से सत्य आत्मा का किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रह सकता वे वर्तमान शरीर में ही मुक्तिसुख प्राप्त कर लेते हैं। जीवन्मुक्त के हृदय में विषयभोग की जरा-सी भी उत्सुकता जागृत नहीं होती, क्योंकि वे आत्मलाभ में सर्वदा सन्तुष्ट रहते हैं। जो मनुष्य अमृत-पान करके तृप्त हो गया हो, वह अन्य क्षुद्र पदार्थों की इच्छा ही क्यों करेगा ? इसी प्रकार जो सत्पुरुष निरन्तर परमानन्द में निमग्न रहते हैं, वे बिषयभोगों की अभिलाषा ही क्यों करेंगे ? सभी पदार्थ मायिक और मिथ्या हैं, उनमें इच्छा और अनिच्छा दोनों ही सम्भव नहीं। मुक्त पुरुष देहेन्द्रियादि द्वारा प्रारब्ध सुख-दुःख भोगता है और स्वयं स्वकीय, असङ्ग, अद्वितीय, स्वप्रकाश, सुखरूप साक्षीभाव में अवस्थित रहता है।

जीवन्मुक्ति आर्य तत्त्वज्ञान का शिखर है, यह भरतखण्ड के योगीजनों के ज्ञान की सर्वोच्च श्रेणी है। 'ऐहिक विषयसम्पत्ति चाहे कितनी ही क्यों न मिल जाय, उससे अविनाशी सुख सम्भव नहीं है' यह सिद्धान्त आर्य लोगों को जैसा सम्यक् रूप से ज्ञात था, वैसा अन्य किसी देश के लोगों को नहीं। विकारी और विनश्वर विषय-सुख से विमुख होकर आत्म-सुख के लिए प्रबल प्रयत्न करना ही आर्यतत्त्वज्ञान का उद्देश्य है। 'आत्मसुख कृत्रिम या जन्य पदार्थ नहीं है। अतः वह देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण के समाधान से उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि आत्म नित्यसिद्ध है और प्रमाण के फल-स्वरूप आवरण के नष्ट होने पर हृदय में प्रकाशित होता है' इस रहस्य का पूर्ण परिज्ञान होने पर ही आत्मविद्या का महत्व प्रत्यक्ष अनुभूत होता है।

हृदयात् यं परित्यज्य सर्वं दृश्यं प्रशान्तधीः ।
व्योमसौम्यतरोऽव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः ॥१९॥

जो सकल प्रपञ्च (दृश्यमान, मायाजाल) को मन से दूरकर शीतल चित्त से आकाश की तरह अत्यन्त निर्मल एवं शान्त होकर स्थित होते हैं, वे परमात्मा के समान मुक्तस्वरूप हैं। शान्त, असङ्ग निजस्वरूप में स्थित रहना ही जीवन्मुक्ति है।

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ।
हृदयेनास्तसर्वाशो मुक्त एवोत्तमाशयः ॥ २० ॥

जिन्होंने चित्त से समस्त तृष्णाओं को दूर कर दिया, वे चाहे ध्यान करें या सांसारिक कर्म करें अथवा कुछ भी न करें, निर्मल अन्तःकरण होने से वे मुक्त ही रहते हैं। सब तृष्णाओं का उत्पाटन ही मुक्ति है। अद्वितीय आत्मस्वरूप में उनकी स्थिति सर्वथा अक्षुण्ण रहने से कर्म करने या न करने से उनकी कुछ भी क्षति या वृद्धि नहीं होती। निरोध, व्युत्थान या व्यवहार चित्त के धर्म हैं, निज निर्विकार आत्मस्वरूप में उनका प्रसार नहीं है। उदासीन साक्षी की दृष्टि में कर्म और मुक्त पुरुष ही समान हैं। सभी अनात्मविषय पदार्थ असत्य होते और मुक्त पुरुष का चित्त से कोई सम्बन्ध न होने से वे तृष्णारहित और सर्वथा सुखी रहते हैं।

अनात्मन्यात्मधीर्बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते ।
बन्धमोक्षौ न विद्येते नित्यमुक्तस्य चाऽऽत्मनः ॥ २१ ॥

देहादि में आत्मबुद्धि का नाम 'बन्ध' है। 'मैं देहादि नहीं हूँ, वे मुझसे भिन्न और असत्य हैं, मैं उनका प्रकाशक असंग आत्मा हूँ, ऐसा दृढ़ बोध ही मोक्ष हैं। आत्मा में वस्तुत बन्ध और मोक्ष नहीं है, अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप होने से आत्मा नित्यमुक्त है। आत्मा का आवरण बन्ध कहा जाता है और आवरण-भंग का नाम मुक्ति है। दूसरी

वस्तु न रहने के कारण ब्रह्म का आवरण सम्भव नहीं। बन्ध और मोक्ष दोनों बुद्धि के धर्म हैं, क्योंकि 'आत्मा ही सत्य है' या 'परमार्थ आत्मवस्तु नहीं है अथवा प्रतीत नहीं होती' यह बुद्धि का ही निश्चय है, नित्यसत्य आत्मा में यह नहीं है। जैसे सूर्य में मेघकृत वह आवरण नहीं रहता, जो नेत्रों को ढाँकता है, वैसे ही अद्वय, असंग आत्मा में बुद्धि के कोई प्रत्यय नहीं रह सकते। अज्ञानकल्पित आवरण का नाश प्रमाणसहकृत साक्षात्कार से सम्पन्न होता है।

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम्।
सम्पन्नं चेत् तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृत्तिः॥ २२॥

भूत, भविष्य और वर्तमान, किसी भी काल में भ्रम के बिना दृश्य पदार्थों की सत्ता स्फुरण सम्भावित नहीं है—ऐसा जानकर यदि मन से सकल दृश्यों का निराकरण किया जाय, तभी सहज में ही मुक्तिसुख प्राप्त होता है। अनात्म पदार्थों का निरसन उनके असत्यत्वज्ञान से ही सम्भव है। श्रुति, युक्ति और अनुभूति की सहायता से दृश्य मिथ्यात्व सहज ही उपलब्ध हो सकता है (देखिये, दृश्यदर्शन का मिथ्यात्व')। दृश्य विषय को सत्य मानकर, अन्तःकरण से युक्त रहकर, उनके प्रकाशक आत्मस्वरूप में लक्ष्य न देकर भोग्य पदार्थों में वैराग्यसम्पादन कभी भी सम्भव नहीं। सभी दृश्य मायिक और मिथ्या हैं, यह श्रुति एवं युक्ति की सहायता से ज्ञात होता है। 'विभिन्न विषयाकार अन्तःकरण वृत्तियों का प्रकाशक अन्तःकरण द्वारा अस्पृष्ट शुद्ध द्रष्टाभाव, मेरा यथार्थ स्वरूप है' ऐसे निश्चयपूर्वक त्रिपुटीभाव का वर्जन करने पर निज शुद्ध साक्षिस्वभाव में स्थिति का अनुभव होता है। अभ्यासकृत उसकी दृढ़ता सम्यक् अनुभूति है। (इस प्रसङ्ग में 'चित्तविश्रान्ति' और 'आत्मनिरूपण' 'समाधिषट्क' द्रष्टव्य हैं)। मन के दृश्यरहित होने पर (हृदय में सूक्ष्म या साक्षीभास्य सकल दृश्यों का अभाव सम्पादित होने पर) निरतिशय आनन्द की प्राप्ति और अखण्डित मोक्षस्थिति होती है। सांसारिक या

विषय जनित सुख केवल आत्मसुख ही है, क्योंकि सुख या आनन्द आत्मा का धर्म है। (यहाँ 'आनन्दतत्त्वमीमांसा द्रष्टव्य है)। विषय-भोग से जो सुख प्राप्त होता है, दृश्य विषयों के साथ संयुक्त रहने से वह अत्यन्त परिमित होता है। ज्ञान का उदय होने पर (दृश्य का अभाव होने पर) निरतिशय आत्मसुख प्राप्त होता है। जिस समय दृश्य का स्फुरण नहीं होता, उस अवस्था में द्वैतभाव गलित हो जाता है और अद्वैत आत्मसुख अनुभव में आता है। यही निजानन्द है, यही परिपूर्ण ज्ञान या निर्विकल्प समाधि है। इस अवस्था में चित्त की समस्त कल्पनाएँ (कलना या दृश्यस्फुरण) शान्त हो जाती हैं। इसकी अपेक्षा जीव की अधिक उत्तम अवस्था नहीं हो सकती। यह जीवन्मुक्त की सहज-दशा है।

न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले।
सर्वाशासंक्षये चेतःक्षयो मोक्ष इतीष्यते ॥ २३ ॥

यहाँ पाताले न च भूतले' और 'इतीर्यते' ऐसे पाठान्तर हैं। मोक्षरूप परिज्ञात चिदात्मा आकाश, पाताल या भूतलपर अर्थात् निजस्वरूप से व्यवहित किसी स्थान में विद्यमान नहीं है। किन्तु सकल पदार्थों की तृष्णा के विनष्ट होने पर चित्त में जो शान्ति अनुभूत होती है, वही मोक्ष है। जब आशाएँ नष्ट हो जाती हैं और फलस्वरूप चित्त का भी क्षय हो जाता है, तभी मोक्षसुख प्राप्त होता है। सार-असार विवेकद्वारा ही असत्य विषयवासना का क्षय हो जाता है और चञ्चल मन भी स्वयं नष्ट हो जाता है। मन का क्षय ही मुक्ति कहा जाता है। साक्षात्कारवृत्ति में प्रतिफलित आत्मा या आत्मप्रकाश से उद्भासित साक्षात्कारवृत्ति ही मुक्ति है। अतः यह साक्षात् अनुभूत निजस्वरूप है, इसलिए किसी व्यवहित देश में मुक्ति विद्यमान नहीं रहती। विवेक और विचार के परिणामस्वरूप बुद्धि के निर्मल एवं निश्चल होने पर प्रत्यगात्मा स्वयं उसमें भासमान होता है। आत्मवासना के उपचय से विषयवासना के शिथिल होने

पर चित्त की क्षण-क्षण में विषयाकार में परिणति बन्द हो जाती है और फलस्वरूप उसकी चञ्चलता नष्ट हो जाती है। अचल चित्त अपने आत्मस्वरूप में ही पर्यवसित होता है, अधिष्ठान ही कल्पित वस्तु का स्वरूप हुआ करता है। स्वप्रकाश प्रयगात्मा ही मोक्षरूप में परिशिष्ट रहता है। देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेदशून्य अपने नित्य अखण्ड सुखस्वरूप की दृढ़ अन्तर्मुख या ब्रह्माकार-वृत्ति की सहायता से सम्यक् उपलब्धि होने पर मुक्तिसुख प्राप्त होता है। बहिर्मुख वृत्ति से किसी प्रकार का भेद या परिच्छेद अङ्गीकार करके अमुक वस्तु प्राप्त होने पर, अमुक देश या काल में मुक्ति की सम्भावना नहीं है। ब्रह्मादि लोक, परोक्ष ईश्वर, प्रारब्ध या मोक्ष आदि समस्त कल्पित भेदभाव स्वतः विगलित होने पर सब अनात्मवासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और प्रत्यगात्मा स्वयं प्रकाशमान हो जाता है। ऐसे निर्वासनिक अन्तर्मुख अधिकारी को बिना चाहे ही अनायास मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

अनन्ते चिद्घनानन्दे निर्विकल्पैकरूपिणि।
स्थिते द्वितीयस्याभावात् को बन्धो मोक्ष एव वा ॥२४॥

केवल स्वयम्प्रकाश सुखरूप, अविनाशी विकल्परहित एवं व्यापक प्रत्यग्ब्रह्म ही स्थित है, दूसरी कोई वस्तु नहीं है। अतः बन्ध भी क्या और मोक्ष भी क्या है? इस प्रकार विकल्परहित आत्मा को जान लेने पर बन्ध-मोक्ष कुछ भी नहीं रह जाता। जब बन्ध नहीं, तब सापेक्ष मोक्ष भी नहीं रह सकता। इस तात्त्विक दृष्टिकोण का अवलम्बन करके-उसमें आस्था बढ़ाकर युक्तिरूप विचार की सहायता से संशय का निरास करके, उसी की निरन्तर भावना से (किसी प्रकार के विकल्प को चित्त में न उठने देने के अभ्यास से) सहज ही आत्मब्रह्म का अनुभव सम्भव होता है।

उत्तम मुमुक्षु के लिए ये सब श्लोक निदिध्यासनवाक्य हैं, मध्यमा-

धिकारी के लिए विचारणीय और कनिष्ठ अधिकारी के लिए आस्था करने योग्य हैं। जनकादि के समान अत्युत्तम मुमुक्षु पुरुष के लिए वाक्यों का श्रवण ही आत्मसाक्षात्कार का कारण बन जाता है। 'न च त्वं न चाहं न चायं प्रपञ्चः' ऐसे सिद्धान्तवाक्यों के श्रवण से विशुद्धान्तःकरण पुरुष परिशिष्ट प्रत्यगानन्दस्वरूप में स्वतः स्थित हो जाता है। अन्तःकरण के अत्यन्त निर्मल हो जाने पर समाधि या साक्षीरूप में स्थिति सहज ही सिद्ध होती है। जीवन्मुक्त पुरुष का सहज अनुभव ही उपर्युक्त सिद्धान्त-वचनों के रूप में प्रकट हुआ है, क्योंकि वे सर्वदा स्वयं ज्योति निजानन्द में स्थित रहते हैं।

मन एवोल्लसन्मात्रं बद्धतामगमद्यतः।
मनःप्रशमनो राम मोक्ष एवावशिष्यते ॥ २५ ॥

यतः मन का उल्लास (बुद्धि) ही बन्ध है, अतएव हे राम ! मन का प्रशमन (निश्चलता-सम्पादन) ही मोक्ष है। मन के प्रशान्त (सम्यक् अन्तर्मुख या ब्रह्माकार में आकारित) होकर स्थित होने पर स्वतः निजानन्द का अनुभव होता है। बाह्य-आभ्यन्तर समस्त आयासों का परित्याग होने पर निश्चलरूप में अवस्थित होता है, क्योंकि बाह्य कर्म और आन्तर चिन्तन वासनावृद्धि तथा तज्जनित चित्तस्फुरण का अवश्यंभावी हेतु होता है। विक्षेप-विकल्पवर्जित अन्तःकरण में सुखरूप आत्मा का स्वतः अनुभव होता है। यही "समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि" इस गीतावाक्य का भी तात्पर्य है।

एष स्वभावाभिमतं स्वतः संकल्प्य धावति ।
चेतना स्वयमम्लाना सैवेह मन आत्मनः ॥ १ ॥

निजरूप में अखण्डित रहकर भी अन्तःकरण 'मन' संज्ञा को प्राप्त होता है और नाना प्रकार के इष्ट-अनिष्ट सङ्कल्प कर इतस्ततः दौड़ता रहता है। अतः संकल्प त्यागना ही श्रेयस्कर है। साधक यदि किसी विषय का चिन्तन न करे, तो उसका अन्तःकरण अखण्ड-रूप में स्थित रहे। मायिक एव अवस्तुभूत पदार्थों में 'यह इष्ट है और यह अनिष्ट है' ऐसी कल्पनाओं का त्याग किया जाय, तो मन विक्षेप और विकल्प से शून्य हो जाय। मन के अचल होने पर — क्योंकि निश्चलता ही अन्तःकरण का स्वकीय रूप है सहज में ही आत्मा का अनुभव होता है। आचार्य का कहना है—'चित्तं चिदिति जानीयात् तकाररहितं यदा। तकारो विषयाध्यासो जपारागो यथा मणौ। ज्ञेयवस्तुपरित्यागात् ज्ञानं तिष्ठति केवलम् ॥"

एतस्मात् सर्वगाद्देवात् सर्वशक्तेर्महात्मनः ।
विभागकलनाशक्तिलहरीवोत्थिताम्भसः ॥ २ ॥

सर्वव्यापी, समस्त-जगत्सृष्टिरूप क्रीड़ा में समर्थ, उत्तमगुणसम्पन्न प्रत्यक् (हृदय में प्रत्यक्ष अनुभूयमान) परमेश्वर से संसार-रचना-शक्ति वैसे ही उत्थित होती है, जैसे जल से तरङ्ग। शक्ति शक्तिमान् से अपृथक् रहती है। विश्व वास्तव में ब्रह्मरूप ही है, अन्य कुछ नहीं।

अन्तःसङ्कल्पसिद्धेयं सङ्कल्पनैव शाम्यति ।
येनैव जायते तेन वह्निज्वालेव वायुना ॥ ३ ॥

जो वस्तु जिस निमित्त से उत्पन्न होती है, वह उसी निमित्त की सहायता से नष्ट होती है। जैसे अग्निज्वाला वायु की सहायता से

उत्पन्न होती है और वायुकी ही सहायता शान्त (निवृत्त) हो जाती है। अतएव यह संसार-परम्परा जब संकल्प से ही सिद्ध है, तब संकल्प द्वारा ही वह नष्ट भी हो जाती है। विषयों के दृढ़ चिन्तन से उत्पन्न यह संसार ब्रह्म के दृढ़ चिन्तन से नष्ट हो जाता है। विषय-चिन्तन का परित्याग करते ही अन्तःकरण अपने आप ब्रह्मभाव में (स्वयम्प्रकाश आनन्द में) परिपूर्ण हो जाता है। निश्चित अन्तः-करण में ब्रह्मज्ञान का प्रकाश (साक्षात्कारवृत्ति का उदय) होने पर आवरण (सामान्य अहम्भाव या वासना) विनष्ट हो जाता है। फिर ईश्वरानुग्रह से महावाक्य-विचार द्वारा प्रतिबन्धरहित ज्ञान उत्पन्न होता है। अन्तःकरण या तो विषयाकार में आकारित रहेगा या अखण्ड ब्रह्मरूप में। अतएव प्रयत्नपूर्वक विषयों के प्रति राग निवृत्त करना चाहिए। इससे अन्तःकरण स्वयं अचल स्थित हो जाता है। यह साभास, अचल अन्तःकरण या साक्षात्कारवृत्ति ही स्वावरक अज्ञान का विनाश कर देती है।

मनोऽमुनैवाभ्युदितं मनागेवानपेक्षणात्।
स्वस्वप्नमरणाकारं प्रेक्षमाणं न विद्यते ॥ ४ ॥

यहाँ 'मुधैवाभ्युदितम्' ऐसा भी पाठान्तर है। यदि थोड़ा-सा भी आत्मविचार (मैं कौन हूँ' इसका अनुसन्धान और निश्चय) न किया जाय, तो मन संकल्प से उत्पन्न होकर दुःख का हेतु बन जाता है। किन्तु जब अपने यथार्थ स्वरूप पर दृष्टि पड़ती है, तो वह नष्ट हो जाता है, जैसे स्वप्न में अपना मरण दिखलाई पड़ता है और जागने पर वह भ्रम दूर हो जाता है। स्वप्न में अपना मरण जैसे मिथ्या है, वैसे ही आत्मस्वरूप में मन का उदय भी नितान्त मिथ्या है। निज निर्लिप्त प्रकाशस्वरूप का विस्मरण होने पर संकल्प-विकल्प मन का उदय होता है। एक संकल्प का उदय, उसका नाश, दूसरे संकल्प का आविर्भाव और दोनों का सन्धिकाल (संकल्परहित अवस्था) साक्षिस्वरूप हमारे ही प्रकाश से प्रकाशित होता है। 'मैं ही वृत्ति के

आविर्भाव-तिरोभाव को जानता हूँ। अतः मैं किसी वृत्ति से विशेषित नहीं हो सकता। इसलिए मैं निर्दृश्य दृक् सकल कल्पित स्फुरणों का प्रकाशक और वस्तुतः सर्वदृश्यरहित द्रष्टामात्र हूँ'—अन्तर्मुख होकर ऐसा विचार करने से अनायास ही अपने साक्षीस्वरूप का परिचय और परिज्ञान होता है। अपने निर्विकार दृक्स्वरूप में लक्ष्य स्थिर होने पर (संकल्प-विकल्प से अपना मिथ्या सम्पर्क विच्छिन्न हो जाने पर) साक्षिभास्य (कल्पित) दृश्य अथवा आन्तर स्फुरण का अवसान हो जाता है, क्योंकि अधिष्ठान और प्रकाशक मेरी ही सत्ता स्फुरण से वे सत्तास्फुर्तिमान् प्रतीत होते हैं। जैसे जागरण में स्वाप्निक प्रतिभास मिथ्या हो जाता है, वैसे ही दृश्यविवर्जित निजरूप के अनुसन्धान से कल्पित दृश्य का अभाव हो जाता है। इसीलिए सर्वदा आत्मा का विचार करना चाहिए।

असम्यग्दर्शनं यत् स्यादनात्मन्यात्मभावनम्।
यदवस्तुनि वस्तुत्वं तन्मनो विद्धि राघव ॥ ५ ॥

अनात्म देहादि में आत्मबुद्धि करना अर्थात् वस्तुतः मैं देहादि न होकर भी देहादि में आत्मस्वरूपत्व का निश्चय करना यथार्थदर्शन नहीं है। असत्य संसारको सत्य समझाना भी मिथ्याज्ञान है। ऐसा असम्यक् दर्शन ही 'मन' कहा जाता है। दृढ़ अनात्मवासना या आत्मा-अनात्मा की ग्रन्थि ही असम्यक् ज्ञान का हेतु है। इसीका नाम 'मन' है। मन न तो जड़ है, न चेतन ही, वह जड़-चेतन की मिश्रित अवस्था है। समष्टि व्यष्टि राजस-सात्त्विक विभाग मन के अवान्तर भेदमात्र हैं। इसलिए समष्टि-कल्पना, व्यष्टि-कल्पना, समष्टि-व्यष्टि प्रमातृभाव, सब कुछ मन के अन्तर्भूत हैं। संवेदन, भावना और कलना — इस प्रपञ्चोत्पत्ति का क्रम पहले बतलाया जा चुका है। सामान्य अहम्भाव का नाश या समस्त वासनाओं का क्षय होने पर (सम्यक् ज्ञान द्वारा मूलज्ञान के निवृत्त होने पर) आत्मस्वरूप का दृढ़ साक्षात्कार उदित होता है। तभी मन का विनाश सम्भव है (देखिये १४ वाँ श्लोक)।

अयं सोऽहमिदं तन्मे एतावन्मात्रकं मनः ।
तदभावनमात्रेण विचारेण विलीयते ॥ ६ ॥

'देहरूप में प्रत्यक्ष अनुभूयमान अपना स्वरूप ही 'मैं' हूँ और ये धनादि विषय 'मेरे' हैं -- ऐसे अवास्तविक ज्ञान का नाम 'मन' है। 'समस्त दृश्य अवस्तुभूत है' ऐसा विचार उत्पन्न होने पर मन (अहम्भाव) नष्ट हो जाता है। दृश्य का सम्यक् निरसन होने पर निर्दृश्य दृक् ही स्वप्रकाश सुखस्वरूप में अवशिष्ट रहती है। तत्त्वविचार ही मनोलय का उत्कृष्ट उपाय है (१३ और २१ वाँ श्लोक देखिये)। कल्पनाद्वारा हममें प्रतिभासित अविद्या का परिणामस्वरूप यह 'मैं मेरा' रूप समस्त दृश्य हमारे ही प्रकाश से सत्ता-स्फूर्ति प्राप्त करता है। वे मिथ्या हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति और विनाश अनुभूत होते हैं। हम कल्पना न करें तो वे भासित नहीं हो सकते, अवस्तुभूत पदार्थों की बुद्धिमान् पुरुष कल्पना नहीं करते। जब कि दृश्य कल्पनाप्रसूत है और कल्पना का त्याग करने पर निवृत्त होता है, अतः वह प्रातिभासिक, दृष्टिसृष्ट और अवास्तविक है। इस तत्त्व का विस्मरण हो जाने पर दृश्य पदार्थ प्रमातृवेद्यस्वरूप में (दृढ़ सत्यरूप में) प्रतीत होते हैं। तत्त्वविचार उत्पन्न होने पर समस्त दृश्यत्रिपुटी साक्षीभास्य एवं मिथ्या निश्चित हो जाती है। निज साक्षीभाव में स्थित होने का अभ्यास होने पर धीरे-धीरे अनात्मवासना शिथिल हो जाती है और ईश्वरानुग्रह से सम्यक् बोध का उदय होने पर वह विनष्ट हो जाती है। (इसे विशेष जानना हो, तो तीसरे प्रकरण का २३ वाँ श्लोक और 'समाधिषट्क' निबन्ध देखिये)।

उपादेयानुपतनं हेयैकान्तविवर्जनम् ।
यदेतन्मनसो रूपं तद्बन्धं विद्धि नेतरम् ॥ ७ ॥

इष्ट वस्तु का ग्रहण और अनिष्ट वस्तु का त्याग ही मन का रूप

है। 'यह ग्रहण करने योग्य हैं, यह त्याज्य है' ऐसा निश्चल ही 'मन' कहा गया है। वही बन्धन है, 'बन्धन' नाम की और दूसरी कोई वस्तु नहीं है। आत्मा तथा अनात्मा के परस्परमेलन (ग्रन्थि से वासना उत्पन्न होती है। वासना से दृश्य का ग्रहण (सङ्ग) होता है। दृश्य के ग्रहण से कामना (बोधनाध्यास) उत्पन्न होती है। फिर बाह्य कर्म-निष्पादन और तत्सम्बन्धी फलाफल का चिन्तन होता है। इससे विषय वासना की वृद्धि होती है। निष्काम कर्म से कर्तृत्वबुद्धि और फलासक्ति नहीं रह जाती, जिससे विषयों का चिन्तन और वासना भी नहीं होती। निष्काम भक्ति से चित्त स्थिर होता है और नैष्कर्म्य के अवलम्बन से अन्त में विचार की पूर्णता होने पर (साक्षात्कार के उदित होने पर वासनाविलयपूर्वक चित्त या अहंकार का नाश हो जाता है। इसलिए निष्काम होकर विषयवासना के परित्याग का यत्न करना परम कर्तव्य है। फलस्वरूप शुद्ध अन्तःकरण में कामवासना ('यह वस्तु मुझे प्राप्त हो' ऐसी दृढ़ अभिलाषा) स्थित नहीं हो पाती। फिर आत्मविचार के परिपक्व होने पर साक्षात्कार उत्पन्न होता और अहंवासना तथा मूलाज्ञान निवृत्त हो जाता है। साक्षीभास्य अविद्या के परिणामरूप दृश्य से मिश्रित न होना (अपने सत्ता-स्फुरण को अर्पण करके त्रिपुटी-अन्तःपाती चिदाभास, परिच्छिन्न द्रष्टा को अपना स्वरूप न जानना) और भासक, निज, नित्य, निर्विकार, निरहंकार स्वरूप में स्थित होना ही 'विचार' है। 'मैं प्रकाशक, दृश्यरहित, प्रत्यक् चेतनमात्र (ज्ञानस्वरूप आत्मा) हूँ' ऐसा निश्चय करना 'विचार' कहलाता है।

मनो हि जगतां कर्तृ मनो हि पुरुषः स्मृतः।
मनःकृतं कृतं लोके न शरीरकृतं कृतम् ॥ ८ ॥

संसार का कारण मन ही है, अतः मन ही मनुष्य है। मन से जो निष्पन्न होता है, वही वास्तव में निष्पन्न होता है। यदि मन वासना-शून्य हो, तो शरीर द्वारा कर्म के अनुष्ठित होने पर भी वह निष्फल हो जाता है। मन ही पाप-पुण्य का हेतु है, मन के बिना पाप-पुण्य का

निश्चय सम्भव नहीं है (इसके लिए ५ वाँ श्लोक देखिये)। इसलिए ज्ञानी पुरुष कर्म और अकर्म में लिप्त नहीं होते, क्योंकि उनका मन ही नहीं रहता। वास्तव में वे कोई कर्म ही नहीं करते। 'नादत्ते कस्यचित्पापम्', 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' इत्यादि गीतावचन इस विषय में प्रबल प्रमाण है।

चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन् सति जगत्त्रयम्।
तस्मिन् क्षीणे जगत् क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥९॥

पदार्थों का कारण चित्त ही है, जबतक चित्त विद्यमान रहता है, तबतक तीनों लोक प्रतीत होते हैं मन के नष्ट (वासनाशून्य) होनेपर संसार का भी क्षय हो जाता है। अतएव प्रयत्नपूर्वक मनोनिरोध का उपाय करना उचित है (देखिये, २१ वाँ श्लोक)। ज्ञानी का मन वासना रहित हो जाता है, अतः वह जगद्दर्शन नहीं करता। ज्ञानी के देहेन्द्रियादि द्वारा निष्पन्न व्यवहार अज्ञानी के दृष्टि से कल्पितमात्र हैं। शरीर, इन्द्रिय, मन अज्ञानवशात् आत्मा में आरोपित हुए हैं, अतः ज्ञानी के स्वरूप में वे किसी भी काल में नहीं हैं। मनोनिरोध के उपाय (योग और ज्ञान) पहले बतलाये जा चुके हैं (इस विषय में छठाँ और ७वाँ श्लोक देखिये)।

राम वासनया बद्धं मुक्तं निर्वासनं मनः।
तस्मान्निर्वासनीभावमाहराऽऽशु विवेकतः ॥ १० ॥

हे राम! वासना के रहने पर बन्धन होता है, वासनाशून्य मन ही मोक्ष है। अतः विवेक द्वारा मन से वासना को दूर करो। साक्ष्य त्रिपुटी और साक्षी आत्मा का विवेक ६ ठें श्लोक में भी बतलाया गया है। 'अविद्या के परिणाममात्र एवं मिथ्याभूत दृश्य पदार्थ में आस्था सम्भव नहीं है' ऐसे निश्चयपूर्वक मुमुक्षु आत्मविचार में प्रवृत्त होता है (७वाँ श्लोक भी देखिये)।

अप्राप्त विषय की इच्छा या तृष्णा ही वासना का स्वरूप है। ऐसी तृष्णा की इस प्रकार निन्दा की गयी है—

यथाऽभ्रलेखा शशिनं सौधलेपं मसी यथा।
दूषयत्येवमेवान्तर्नरमाशापिशाचिका ॥ ११ ॥

हे राम! आशारूपिणी राक्षसी ही जीव की संसारप्राप्ति का कारण होती है, आशारहित पुरुष का संसार निवृत्त हो जाता है। स्वभावतः निर्मल जीव में संसारदोष कैसे प्राप्त हो सकता है, इस सम्बन्ध में दो दृष्टान्त बतलाये जा रहे हैं—मेघ जैसे निर्मल चन्द्रमा को और स्याही जैसे उत्तम गृह को मलिन कर देती है, वैसे ही विषयेच्छा जीव के स्वभावतः निर्मल चित्त को कलुषित कर देती है। वासनारूप आवरण के कारण ही सुखरूप प्रत्यगात्मा हृदय में वर्तमान रहकर भी स्पष्ट भासित नहीं होता। यदि हृदय में किसी पदार्थ की इच्छा उत्पन्न न हो, तो प्रशान्त अन्तःकरण में आनन्दरूप आत्मा स्वयं प्रतिफलित होता है। विषयानन्द और वासनानन्द में त्रिपुटी एवं सामान्य अहम्भाव रहता है, ब्रह्मानन्द तथा विद्यानन्द में अद्वैत आत्मा प्रकाशित होता है। ब्रह्मीभूत अन्तःकरण अद्वयात्मस्वरूप हो जाता है, अतः द्वैतापत्ति की सम्भावना नहीं है। दोनों ही आनन्द अखण्ड अनुभवरूप हैं। विद्यानन्द में 'विद्या' या 'ज्ञान' उपलक्षणमात्र है (मूलाज्ञान के निवृत्त हो जाने पर अन्तःकरण भी नष्ट हो जाता है) अथवा वह दग्ध अन्तःकरण-उपाधि की वृत्ति है (२५ वाँ श्लोक देखिये)। विषयेच्छारहित चित्त चित् ही है (१ श्लोक देखिये)। सुतरां विचारद्वारा तृष्णा का परित्याग करने पर विशुद्ध चित्त में आत्मा स्वयं ही प्रकाशित होता है। 'सुख और दुःख' शीर्षक निबन्ध देखिये।

अन्तर्मुखतया सर्वं चिद्वह्नौ त्रिजगत्तृणम्।
जुह्वतोऽन्तर्निवर्तेरन राम चित्तादिवृत्तयः ॥ १२ ॥

हे राम! विषयचिन्तनरहित, आत्माकार में आकारित अन्तःकरण की सहायता से प्रज्वलित आत्मज्ञानरूप अग्नि में त्रिलोकीरूप तृण के

आत्मसात् कर देने पर चित्त आदि (द्रष्टा, दृश्य, दर्शनरूप) सम्पूर्ण भ्रम अन्तर में स्वतः निवृत हो जाते हैं। अन्तःकरण के शुद्ध होने पर विवेक वैराग्य और विचार उदित होते हैं। क्रमशः ध्यान एवं समाधि का परिपाक होने पर साक्षात्कार उत्पन्न होता है। इससे सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट हो जाता है और फलस्वरूप अज्ञान का तमःप्रधान कार्य जगत् बाधित हो जाता है। अतएव अज्ञान का रज एवं सत्त्वप्रधान कार्य अन्तःकरण तथा अहम्भाव भी विनष्ट हो जाता है। चित्त सात्त्विक श्रद्धा तथा विषय में अनास्था (निष्कामता)-पूर्वक सत्कर्मानुष्ठान में अन्तर्मुख होता है। भगवद्भक्ति के फलस्वरूप चित्त एकाग्र होता है और फिर सर्वकर्म-संन्यासपूर्वक विचार उत्पन्न होता है। इससे निर्दृश्य दृक्स्वरूप आत्मा में (शुद्ध त्वंपदार्थ में) चित्त का समाधान और उसके साथ प्रमाता का ऐक्यानुभव होता है। यह दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि अन्त में शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि में परिणत होती है। यह तीसरी योगभूमिका है। अभ्यास तथा सजातीय संस्कार की अभिवृद्धि होने पर निर्विकल्प समाधि उदित होती है-चित्त अखण्डित ब्रह्माकार में आकारित हो जाता है। इसके अभ्यास से वासनाक्षय होता है। (२१ वाँ श्लोक देखिये) और परिणामस्वरूप पूर्णात्मा के प्रकाश से अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर परमसुखस्वरूप प्रत्यगात्मा स्वयं सर्वदा भासमान होता है (देखिये २२, २३ श्लोक)।

अब चित्तनाश का उपाय बतलाया जाता है--

यदा न भाव्यते किञ्चिद्धेयोपादेयरूपवित्।
स्थीयते सकलं त्यक्त्वा तदा चित्तं न जायते ॥ १३ ॥

'ग्रहणयोग्य या ग्राह्य सभी पदार्थ अवस्तुभूत हैं' ऐसा निश्चय करके मुमुक्षु जब किसी भी विषय का स्मरण नहीं करता, तब स्वतः ही चित्त विलीन हो जाता है। पूर्व श्लोक में साक्षात्कार के फलस्वरूप चित्त का नाश बतलाया गया है। इस श्लोक में विषय चिन्तन के त्याग से

अखण्डित चित्त में साक्षात्कार का उदय बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि चित्तनाश तथा आत्मदर्शन, दोनों के ही लिए एक-साथ (अविरोध से) अभ्यास करना चाहिए (देखिए बलि-विरोचन संवाद)। प्रयत्न के फलस्वरूप चित्त का परिच्छिन्न विषयाकार में परिणमन बन्द होने पर चित्त स्वयं अखण्डरूप में (आत्माकार में) अवस्थित हो जाता है, अज्ञान में लीन नहीं हो पाता। सुषुप्ति तथा निर्विकल्प समाधि में यही भेद है (देखिये "चित्तविश्रान्ति" शीर्षक निबन्ध)।

अब चित्त की वृत्तियों के भेद से विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन किया जाता है--

घोरं जाग्रन्मयं चित्तं मूढं स्वप्ने व्यवस्थितम्।
शान्तं सुषुप्तिभावस्थं त्रिभिर्हीनं मृतं भवेत्॥ १४॥

जागरण में चित्त घोर (परम दुःसह) अवस्था में स्थित रहता है, स्वप्न में मूढ़ और सुषुप्तिकाल में शान्तरूप में अवस्थित रहता है। तुरीय (चतुर्थ) अवस्था में राजस, तामस, एवं सात्त्विकभावों को त्यागकर निर्गुण प्रत्यगात्मा में विलीन (नष्ट) हो जाता है--समस्त वासनाओं का क्षय हो जाने से चित्त प्रत्यगभिन्न ब्रह्मभाव में पर्यवसित हो जाता है। यह 'मनोलय' कहा जाता है। जाग्रदवस्था में चित्त का रूप राजसिक (एक विषय से दूसरे विषयों की ओर धावमान), अत्यन्त चञ्चल और दुःसह हो जाता है। स्वप्नकाल में पदार्थों का अस्पष्ट ज्ञान होता है। वासनामय, प्रातिभासिक स्वप्नप्रपञ्च ईश्वर-निर्मित नहीं है। पदार्थों के अस्पष्ट ज्ञान के कारण पशु-पक्षी स्वप्नावस्था में स्थित होते हैं। सुषुप्ति के समय भोक्ता आनन्दमय स्वरूपानन्द का भोग करता है। तुरीयावस्था में जीव सौषुप्त आनन्दमय में अर्थात् भोक्ता, भोग्य और भोग के साक्षीरूप में अवस्थित रहता है (आनन्दमय दो प्रकार है, यह 'आनन्दतत्त्वमीमांसा' में विशद बतलाया गया है)।

मन का विलय होने पर ब्रह्मानन्द प्रत्यक्ष अनुभूत होता है, यही

मनोलय का रहस्य है। शान्त मन आत्मा ही हो जाता है। अज्ञान की निवृत्ति, मनोनाश, वासनाक्षय, आत्मसाक्षात्कार, आनन्दाविर्भाव सब पर्यायार्थक हैं। आर्षशास्त्रों (योग तथा वेदान्तों) की यह सर्वोच्च देन है। मनस्तत्त्व का रहस्य जागरण, स्वप्न या सुषुप्ति-अवस्था के परिज्ञान में पर्यवसित नहीं है। मनस्सम्बन्धी गूढ़ तत्त्व समाधि अथवा अमनस्क आत्मतत्त्व का प्रत्यक्ष अनुभव है। मन स्वप्रकाश आत्मा ही है, यही 'मनोलय' कहा गया है। मन को अमनस्क रूप में स्थित करने के उपाय का अन्वेषण और तदनुकूल उसके अवस्थाभेदों का यथार्थ निरूपण मनोवैज्ञानिकों का परम कर्त्तव्य है। इससे योगशास्त्र तथा वेदान्त का अविरोध सिद्ध होता है। 'मैं हिरण्यगर्भ हूँ' ऐसी दृढ़ भावना करके चित्त समाहित हो, तो उससे परमात्मसाक्षात्कार नहीं होता (देखिये १९ वाँ श्लोक)। अत्यन्त निर्वासनिक चित्त आत्म-ब्रह्म के आकार में स्वयं दृढ़ आकारित हो जाता है। फिर अखण्ड आत्मप्रकाश उदित होता है और समस्त अज्ञान नष्ट हो जाता है। मूलाज्ञान के नाश में समर्थ आत्मबोध ही वेदान्तशास्त्र की समाधि है। (यह तीसरे प्रकरण के पहले श्लोक में बतलाया गया है)। अतएव मनोलय, सम्यक् निर्वासनीभाव या चित्त की तुरीय अवस्था की भावना करना मुमुक्षु का कर्तव्य है। इसीलिए वेदान्तशास्त्र में जाग्रदादि त्रिविध अवस्थाओं का निरूपण किया गया है। फलस्वरूप चित्त की इन तीनों भूमिकाओं का परित्याग कर (विषयचिन्तन न कर और आवृत्त आत्मा में चित्त का लय न होने देकर) चित्त को स्वयं अचलरूप में स्थित (निरावरण प्रत्यगात्मा के साथ एकीभूत) रखना मुमुक्षुओं का परमकर्त्तव्य है। जाग्रत्निरूपण की अपेक्षा स्वप्न-निरूपण उत्कृष्ट है। इससे सुषुप्तिनिरूपण अत्यन्त प्रशस्त है और सुषुप्तिनिरूपण की अपेक्षा तुरीयावस्था का निरूपण अनन्तगुणित श्रेष्ठ है। चित्त के नष्ट होने पर आत्मलाभ हो जाता है।

मनोलय का यह रहस्य दृष्टान्त द्वारा प्रदर्शित किया जा रहा है–

विलाप्य पङ्कं कतकरजोऽप्सु नयति यथा ।
तथाऽऽत्मनि नयेद्विद्वान् विलाप्य विलयं मनः ॥ १५ ॥

यहाँ पाठान्तर इस प्रकार है—'प्रविलाप्य लयं मनः' जिस प्रकार कतकरेणु जल में विद्यमान धूलि को दूरकर जल को निर्मल कर देता है, उसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष मन को प्रत्यक्साक्षी में विलीन करके (मन के विक्षेप एवं लयस्वभाव को नष्ट करके) निजस्वरूप का शोधन करता है। (परिच्छिन्न प्रमातृभाव का निरसन करके पूर्ण ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है) पंक का अभाव और जल के निर्मलतासम्पादन की तरह पहले निर्मनस्क होना (मन को अचल या अखण्ड स्थिर करना) और फिर पूर्णात्मा का स्वय अनुभव करना उत्तम मुमुक्षु-पुरुष का अविलम्ब कर्त्तव्य है (२३ वाँ श्लोक देखिये इस प्रकार भगवान् वशिष्ठ ने राम को निमित्त बनाकर श्रेष्ठ पुरुषों के लिए हिततम उपदेश किया है।

अब चित्त की निन्दा की जाती है –

चित्तं जानिहि संसारं बन्धश्चित्तमुदाहृतम् ।
पादपः पवनेनेव देहश्चित्तेन चाल्यते ॥ १६ ॥

हे राम ! चित्त को ही संसार जानो। चित्त के पूर्वोक्त राजसादि विचारों का ही नाम संसार है चित्त ही बन्धन है। जैसे वायु वृक्ष को चञ्चल करती है, वैसे चित्त के ही कारण देह इतस्ततः भ्रमण करता है। चित्त ही अहंकार (सात्त्विक चिदाभास) है "भोक्ता सत्त्वगुणः शुद्धो भोगानां साधनं रजः। भोग्यं तमोगुणं प्राहुरात्मा चैषां प्रकाशकः" यह आचार्योक्ति है। जैसे मुख का वाष्प दर्पण को आवृत करता है, वैसे ही चित्त (अहंकार) से चिदादर्श आवृत्त होता है। चित्त के शान्त होने पर निज निराभास (अहंकाररहित) स्वरूप प्रत्यक्ष अनुभूत होता है। किसी धनी के घर में विवाहोत्सव के अवसर पर एक धूर्त ने आकर

प्रतारणापूर्वक उस धनी को मुग्ध और वशीभूत कर लिया। मूर्ख गृह-स्वामी ने भी अपने आपको उस शठ के हाथों सौंप कर (अपनी प्रभुता-का विलोप करके) धूर्त व्यक्ति को ही प्रभु बना दिया। इस प्रकार प्रतारक ने समस्त ऐश्वर्य का मालिक बनकर मूर्ख गृहपति को बहिष्कृत कर दिया। अहंकार भी ठीक इसी प्रकार आत्मा को मोहित करके—(आत्मा के सत्ता स्फुरण को पाकर) उसे ढँक देता है। चित्त में अहं-कार का प्रवेश यज्ञप्रवेश के समान भयावह है। चित्त के शान्त होने पर अहम्भाव शान्त हो जाता है और निराभास आत्मस्वरूप स्वयं प्रकाशित हो उठता है। (११ वाँ श्लोक द्रष्टव्य है)। वासना तथा विषयचिन्तन के बिना शरीर और इन्द्रिय व्यापारशून्य हो स्थित रहती हैं। चित्त क्षुब्ध हुए बिना शरीर में कोई व्याधि उत्पन्न नहीं हो सकती। आधि ही व्याधि का कारण है। स्वरूप में अध्यस्त चित्त के साथ साक्षी आत्मा की तादात्म्यप्राप्ति ही (तुम, मैं, जगद्रूप) सम्पूर्ण बन्धन है। अखिल प्रपञ्च और उसकी वासना चित्त में ही निवास करती है। इस प्रकार चित्त ही उस सकल दुःखों का निदान है। चित्त (भोक्ता, भोग्य और भोग्यरूप त्रिविध चित्तविकार) का त्याग ही सर्वत्याग है, यही प्रकृष्ट सन्यास है। जिनका चित्त शान्त हो गया है, उन्हें पूर्णानन्द प्राप्त होता है। ('सर्वत्याग या संन्यास' निबन्ध में त्याग का स्वरूप तथा साधन विस्तृतरूप से वर्णित किया गया है।) अतएव सब प्रकार से मनोजय का सम्पादन करना चाहिये।

मुक्ति के साधनों में मन का जय ही प्रथम साधन है, यह आगे बतलाया जाता है—

हस्तं हस्तेन सम्पीड्य दन्तैर्दन्तांश्च पीडयन्।
अङ्गान्यङ्गैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः॥ १७॥

हस्त-पादादि सब अवयवों को स्थिर करके निर्जन स्थान में बैठकर सर्वप्रथम मन को जीतना चाहिए।

चित्तमेकं न शक्नोति जेतुं स्वातन्त्र्यवर्ति यः ।
ध्यानवार्तां वदन्मूढः स किं लोके न लज्जते ॥ १८ ॥

यहाँ 'स्वातन्त्र्यवर्जित': ऐसा पाठान्तर मिलता है। जो ध्यान की बात तो करता है, पर स्वाभाविक प्रवृत्तिशील चित्त को वश नहीं कर सकता, वह मूढ़ मनुष्य है। चित्तजय में असमर्थ पुरुष ध्यान नहीं कर सकता। चित्त का निश्चलरूप में अवस्थान ही ध्यान है। लय-विक्षेप रहित चित्त में प्रत्यगात्मा स्वाभाविक रूप से प्रतिफलित होता है, मुमुक्षु अपने को ब्रह्मरूप में अनुभव करता है। स्थिरीकृत चित्त में अपने को प्रकाशमात्ररूप जानना ही ध्यान है। चित्त की निश्चलता ही ध्यान है। निश्चल चित्त ही आत्मा के साथ एकीभूत हो जाता है स्वप्रकाश आत्माकार में परिणत होता है यह वेदान्तसिद्धान्त है।

मनोजय की प्रशंसा करते हुए पुनः कहा गया है -

एक एव मनो देवो जेयः सर्वार्थसिद्धिदः ।
अनेन विफलः क्लेशः सर्वेषां तज्ज्यं विना ॥ १९ ॥

इस प्रकार मनोरूप देवता को जीत लेने पर वह सब प्रकार की सिद्धि (फलोत्पत्ति, ऐश्वर्य) प्रदान करता है। अतः मनोजय का सम्पादन बिना किये अन्य साधनों के लिए किया गया यत्न निष्फल होता है। मन कि सम्यक् ब्रह्मरूपता का आपादान (किसी विशेष ऐश्वर्य सम्बन्धी वासना की दृढ़ता) होने पर ही अधिष्ठान-ब्रह्म से नियति के नियन्त्रण में उस-उस कल्पित फल की उत्पत्ति सम्भव होती है। "प्रबल पुरुषकार" या सुदृढ़ इच्छा तद्वासित अन्तःकरण को निश्चलरूप से अधिष्ठान ब्रह्म में स्थापित करने, उसके साथ एकीभूत करने या अधिष्ठानब्रह्मरूप में दृढ़ परिणत करने का ही नाम है। लीलासम्बन्धी उपाख्यान, दशब्रह्माण्डोपाख्यान इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन सब उपाख्यानों का सारांश यही है कि आधिभौतिक भाव या दृष्टि-देहाभिमान का परित्याग करने पर चित्त समष्टि अज्ञान (संकल्प)

संयुक्त ऐश्वरभाव में समाहित होता है। यह 'आतिवाहिक शरीर' कहा जाता है। योगिजन इस आतिवाहिक शरीर में स्थित रहकर सब सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। मन को जीते बिना आतिवाहिक शरीर प्राप्त नहीं होता। मनोजय के फलस्वरूप मुमुक्षु धारणाभ्यासी पुरुष योगैश्वर्य प्राप्त करते हैं। जो जैसी दृढ़ भावना करते हैं, आत्मरूप कल्पवृक्ष से वे वैसा ही फल प्राप्त करते हैं। चित्त की निश्चलता के बिना कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती। काशी के तैलङ्ग स्वामी ऐसे ही धारणाभ्यासी योगी पुरुष थे। अरुणाचल के रमण महर्षि भी योगी पुरुष थे। मन में दृढ़ मुमुक्षा उत्पन्न होने पर विवेक, विरति, विचार और समाधि के सम्यक् अभ्यास से सहज में ही अज्ञाननिवृत्ति-पूर्वक आत्मप्राप्ति हो जाती है। फिर लीला, चूडाला आदि ज्ञानियों के प्रारब्धनिबन्धन समस्त संकल्प सत्य (सफल) होते हैं।

इस प्रकार मन के नष्ट होने या आत्मा में विलीन होने पर यही मनोनिरोध या मनोजय कहा गया है—ईप्सित ऐश्वर्य और ज्ञानसिद्धि दोनों प्राप्त हो जाते हैं। वासनासहित मनोनिरोध के फलस्वरूप ऐश्वर्यसुख एवं वासनारहित निरोध के फलस्वरूप मोक्षसुख प्राप्त होता है। योगी की वासना अनुद्भूत रहती हैं, क्योंकि उद्भूत वासना चित्तनिरोध के प्रतिकूल होती है। समाधि या प्रत्यगात्मा में मन की सम्यक् स्थिति के बिना किसी प्रकार का अर्थसिद्ध नहीं होता। देहाभिमान (आधिभौतिकभाव) निवृत होने पर आतिवाहिक भाव (समष्टि अहम्भाव या अज्ञानयुक्त आत्मा से तादात्म्य) रूप योगी की समाधि प्राप्त होती है। किन्तु जबतक स्वरूप स्वरूप-साक्षात्कार नहीं होता, तबतक ज्ञानी की समाधि (पूर्णानन्द) प्राप्त नहीं होती। फलतः निरंकुश सिद्धि भी प्राप्त नहीं होती। पूर्णात्मबोध ही पुष्कल सिद्धि है - यह बात लीला, चूडाला तथा वीतहव्य के उपाख्यानों में भली-भाँति वर्णित है। जप, पाठ तथा समाधि का अभ्यास मन पर विजय पाने, मन की समस्त वृत्तियों का निरोध करने, मन के विलय या मन

की अखण्ड ब्रह्माकार स्थिति के लिए उपदिष्ट है। चित्त के शुद्ध होने पर वह एकाग्र या प्रत्यगात्मा में एकाग्र होता है। बाद में विचार की सहायता से वह दृश्यरहित दृक्कस्वरूप में समाहित होता है! परमात्म-वासना के उपचय से निरोध का अभ्यास बढ़ता है, फलस्वरूप सब वृत्तियाँ शान्त हो जातीं और चित्त ब्रह्माकार में परिणत हो जाता है। यही निर्विकल्प समाधि या मनोलय है (देखिये २२-२३ वाँ श्लोक)। जीव की निजरूप में सहज स्थिति ही समाधि है। आजकल वेदान्त या वाशिष्ठ का अनुशीलन न होने से मनोजय या समाधि एक महाकठिन कार्य समझा जाता है। अब तक जो प्रतिपादन किया गया, उससे अनायास जाना जा सकता है कि वैराग्य, समाधि या मनो-निरोधक निज, नित्य स्वाभाविक स्थिति है, कोई कृत्रिम, अस्वरूप क्षणिक भाव नहीं। कारण यह चित्त की स्वयत्नसिद्ध स्वरूपस्थिति या अत्यन्त समीपस्थिति का द्योतकमात्र है।

अनुद्वेगः श्रियोमूलमनुद्वेगात् प्रवर्तते।
जन्तोर्मनोजयादन्यस्त्रैलोक्यविजयस्तृणम् ॥ २० ॥

यहाँ 'अनुद्वेगात् प्रमुच्यते' ऐसा भी पाठ देखा जाता है। इष्टवस्तु की अप्राप्ति में भी यदि उद्वेग (उत्कण्ठा, भय) न हो, तो इस चित्त-शांति से मोक्ष प्राप्त होता है। अतः मनोजय में यत्न न करके अन्य पदार्थों की प्राप्ति का यत्न करना वृथा है।

अब मनोजय के साधन बतालाये जाते हैं

सत्संगोः वासनात्यागोऽध्यात्मशास्त्रविचारणम्।
प्राणस्पन्दनिरोधश्चेत्युपाया मनसो जये ॥ २१ ॥

मन को जीतने के चार उपाय हैं सज्जनसङ्ग, तृष्णात्याग, वेदान्त शास्त्रविचार और प्राणायाम। इन चारों उपायों का सम्पादन करने पर थोड़े ही समय में मनोजय निष्पन्न हो जाता है। ज्ञानी पुरुष के मुख से शास्त्र का रहस्य सहज में ही ज्ञात हो जाता है। इसके सिवा जीवन्मुक्त का आचरण और सहजस्थिति मन में शान्ति ला देते हैं।

'योगवाशिष्ठ' के विचार (सयुक्तिक मनन और ध्यान) से चित्त शान्त होकर आत्माकार में परिणत हो जाता है। आचार्य कहते हैं—'ब्रह्म विदोपदेशमननध्यानादिभिर्लभ्यते, मायाकार्यतिरोहितं स्वममलं तत्त्वं तुदुर्युक्तिभिः।' वासनात्याग से आत्मज्ञान दृढ़ होकर सत्त्वापत्ति-भूमिका प्राप्त होती है (देखिये ७, ९, १२ वाँ श्लोक)। प्राणायाम द्वारा मन की अन्तर्मुखता और आत्माकार में परिणत होती है। प्राणक्षोभ बन्द होने पर मन भी शांत हो जाता है (१६ वाँ श्लोक देखिये)। सारांश, सभी विक्षेपों एवं विकल्पों के वर्जन से चित्त स्वयं समाहित होता और शांति-सुख का अनुभव करता है।

मनोजय का फल बतलाते हुए कहते हैं—

पूर्णे मनसि सम्पूर्णं सर्वं जगत् सुधाद्रवैः।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः ॥ २२ ॥

मन के विजित हो जाने पर सारा संसार शान्तिरूप अमृतरस से पूर्ण प्रतीत होने लगता है। जैसे अपने पैरों में जूता पहन लेने पर सारी भूमि मानों चर्माच्छादित-सी प्रतीत होती है, वैसे ही भीतर शांति (स्वप्रकाश सुखरूप प्रत्यगात्मा की स्वाभाविक स्फूर्ति) अनुभूत होने पर बाहर भी सर्वत्र आनन्द का ही भान होता है। इसका कारण यही है कि संस्कार (वासना) रूप से जो भीतर विद्यमान रहता है, वही बाहर प्रतिभास होता है। बाहर कोई भी पदार्थ वास्तविक नहीं है, फिर भी आन्तर उद्भूत वासना बाह्य पदार्थरूप से स्पष्ट भासित होती है। वासना भी वास्तव में मिथ्या है, वास्य और वासक भी अज्ञानप्रसूत होने से मिथ्या है। पदार्थ सम्बन्धी दृढ़ प्रत्यय ही पदार्थरूप में प्रस्फुरित होता है। पदार्थ भीतर बाहर कहीं भी नहीं है। भीतर-बाहर-भेद स्थूल शरीर की अपेक्षा से माना जाता है। यह सब अज्ञान का कार्य है। तात्त्विक दृष्टि से एकमात्र आत्मा ही सत्य है। वही भीतर प्रत्यक्‌रूप में स्थित है और बाहर ईश्वररूप में अवस्थित है—जैसे कि एक, अखण्ड आकाश ही घट के भीतर घटाकाश नाम से और

बाहर महाकाशरूप में अवस्थित रहता है। वासना तथा पदार्थप्रत्यय का स्मरण बन्द (निरुद्ध) होने पर चित्त अचल हो जाता और शांत आत्मा का अनुभव होता है। अन्तःकरण अविद्या का कार्य है, अतः अविद्या का नाश होते ही अन्तःकरण ('यह मैं हूँ, यह जगत् है' ऐसा प्रत्यय नष्ट हो जाता है। मन की पूर्णता या विचारजनित साक्षात्कारवृति का उदय होने पर मूलाविद्या नष्ट हो जाती है। विचारकाल में वैराग्य एवं अभ्यास के अवलम्बन से चित्त का निज निर्दृश्य दृक्स्वरूप में समाधान किया जा सकता है। इसके फलस्वरूप अपने आपका साक्षिरूप में अनुभव करना स्वतः सिद्ध हो जाता है। यह शुद्ध त्वंपदार्थ में समाधि है। भोगवासना के त्यागद्वारा इस समाधि के सिद्ध हो जाने पर भेदवासना का निरोध (जागतिक समस्त पदार्थों में अनास्था) करके शोधित तत्पदार्थ में चित्त का समाधान करना चाहिए ('आत्मनिरूपण – समाधिषटक्' देखिए)। योगी लोग अज्ञानसंयुक्त तत्पदार्थ में वृत्ति का निरोध (समाधि) करके मायिक सिद्धि प्राप्त करते हैं। मुमुक्षु माया का निरसन करने के लिए शुद्ध तत्पदार्थ के साथ ऐक्यानुभव करते और अन्त में ज्ञानसिद्धि प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं।

नाहं ब्रह्मेति संकल्पात् सुदृढं बध्यते मनः।
सर्वं ब्रह्मेति संकल्पात् सुदृढं मुच्यते मनः॥ २३॥

'मैं संसारी हूँ' ऐसी भावना या निश्चय से मन बन्धन को प्राप्त होता है और 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे दृढ़ प्रत्यय से वह मुक्त हो जाता है। 'सकल त्रिपुटियों का मैं ही प्रकाशक हूँ' ऐसी भावना से चित्त प्रत्यगाकार में आकारित होता है। फिर 'अखण्ड एकरस ब्रह्म ही मैं हूँ' इस प्रकार अद्वितीय ब्रह्म के साथ ऐक्यानुभव निर्विकल्प समाधि में सिद्ध होता है। वासनारूप समस्त प्रतिबन्धों का अभाव होने पर परिपक्व निर्विकल्प समाधि में ब्रह्मात्मतत्त्व का सम्यक् अनुभव होता है (१२वाँ

श्लोक देखिये)। आगे के पृष्ठों में मानचित्रों द्वारा समाधिविषयक 'सारसंग्रह' प्रदर्शित किया गया है।

संकल्प की दृढ़ता के कारण व्यष्टि भोक्ता, भोग्य और भोग समष्टि स्रष्टा, सृज्य और सृष्टिरूप त्रिपुटि के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त कर लेते हैं। अन्तःकरण विशिष्ट देहाभिमानी जीव अन्तःकरण-वृत्ति के निरोध (ईश्वरतत्त्व में समाधि) द्वारा आतिवाहिक शरीर प्राप्त कर सत्यसंकल्प हो जाता है। व्यष्टिभाव आतिवाहिक शरीर में निहित रहता है। चञ्चल अन्तःकरण में बहुविषयाकार वृत्ति के स्फुरित होते रहते कोई अभिनव अर्थ सिद्ध नहीं हो पाता। मायोपाधिक ईश्वर से सकल फलों की उत्पत्ति होती है, अतः वह फलसम्बन्धी संकल्प (अन्य समस्त वृत्तियों के निरोधाभ्यास) से दृढ़ीकृत होने पर माया के स्वाभाविक स्पन्दनरूप में परिणत हो जाता है।

योगीकी समाधि

आधिभौतिक भाव (व्यवहार-दशा)

व्यष्टि-देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण

(उसकाकार्य) (उनकीवृत्तियाँ) (उसकीक्रिया) (विशिष्टप्रमाता,प्रमेय,प्रमाण)

योग का अभ्यास

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, साक्षीतत्व में समाधि

(अन्तःकरण उपाधि)

भोगवासनातयादेहाभिमान-निरोधपूर्वकअज्ञानोपाधिकईश्वरतत्त्वमें समाधि

आतिवाहिक भाव

फलस्वरूप मायिक ऐश्वर्यप्राप्ति

ज्ञानी की समाधि

(व्यवहार-दशा)

नाना अन्तःकरण (विशेषण)

भोक्ता-भोग्य-भोग कर्ता-क्रिया-कर्म प्रमाता-प्रमेय-प्रमाण

अन्तःकरणोपाधिकसाक्षी, अंतःकरणोपाधिकसाक्षी, अंतःकरणोपाधिकसाक्षी

भोगवासना का फल पञ्चकोष और त्रिविध शरीरोपाधिकृत बन्धन

ज्ञानाभ्यास

(दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि – १)

सर्वसाक्षी ईश्वर (अज्ञानोपाधिक)

(मायाकृत जगत् उपाधि)

(शब्दानुविद्ध समाधि – २)

मायानाश से

(निर्विकल्प समाधि – ३)

शुद्ध, बुद्ध, पूर्ण ब्रह्म

(अन्तःकरण उपलक्षण)

(परिपक्व निर्विकल्प समाधि – ४)

(देखिये 'पञ्चदशी' कूटस्थदीप)

चित्ते त्यक्ते लयं याति द्वैतमैक्यं च सर्वतः ।
शिष्यते तु पर ब्रह्म शान्तं नित्यमनामम् ॥ २४ ॥

मनोजय हो जाने पर संसार नहीं भासता। सर्वत्र सजातीय-विजातीय और स्वगत भेदों से रहित, अविनाशी, पूर्ण ब्रह्म ही प्रतिभात होता है।

चिन्मात्रत्वं प्रयातस्य तीर्णमृत्योः सचेतसः ।
यो भवेत् परमानन्दः केनासावुपमीयते ।। २५ ।।

जो निज ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गये हैं, जरा-मरण से मुक्त हो गये हैं, ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष जिस परमानन्द को प्राप्त होते हैं, उसकी उपमा नहीं है। इस निरतिशय आत्मसुख का ज्ञानी ही 'अनुभव' करते हैं, अज्ञानी मनुष्य इसे नहीं जान सकता। ज्ञान की प्रत्यक्षता 'अनुभव' कही जाती है। जब प्रत्यक्साक्षीभाव अपरिच्छिन्न ब्रह्मभाव में पर्यवसित होता है त्रिपुटी अज्ञात या कल्पितरूप में अधिष्ठानब्रह्म में विलीन हो जाती है, तभी यह प्रत्यक्षज्ञान सम्भव है। "मे मनो, यस्यांशांशलवे विलीनमधुनाऽऽनन्दात्मना निर्वृत्तम" (शंकराचार्य) याने माया के एकदेश में स्थित व्यष्टि-अविद्या में विलीन अखण्ड मन से मैं आत्मसुख का अनुभव करता हूँ। ज्ञान या 'जानना' इसका पूर्वभावी, साक्षीभास्य त्रिपुटी-अन्तःपाती, साभास अन्तःकरणवृत्ति है। साक्षात्कार के पूर्वभावी या पदार्थसम्बन्धी ज्ञान में अन्तःकरण 'उपाधि' है। प्रत्यक्ष ज्ञान में ज्ञानस्वरूप आत्मा में स्थिति होने पर अन्तःकरण 'उपलक्षण' या दग्ध अन्त-करण 'उपाधि' है। निरावरण ब्रह्मानन्दस्वभाव में स्थित ज्ञानी अखण्ड आत्मसुख का स्वयं अनुभव करते हैं। उसमें त्रिपुटी नहीं रहती, यही 'ब्रह्मानन्द' है। व्युत्थान या व्यवहारकाल में उस सुख को पुनः दग्ध अन्तःकरण की कल्पित त्रिपुटी की सहायता से जानते हैं, यही 'विद्यानन्द' है। व्यवहारकालीन ज्ञान अन्य की दृष्टि में कल्पित-मात्र है, निज ज्ञात ब्रह्मस्वभाव में अन्तःकरण नष्ट हो जाता है। "रसायनमयी गीता परमानन्दायिनी। नाऽऽनन्ददयतिकं नाम साधु-सङ्गतिचन्द्रिका' ।।

विषय-प्रवेश

प्राणायाम, वृत्तिनिरोध, आत्मविचार और वासनात्याग का विवेचन पहले किया जा चका है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इन पाँच वृत्तियों का समावेश जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में होता है। चित्त-सम्बन्धी इन राजस, तामस तथा सात्त्विक दृश्यभावों का विलय होने पर उनका प्रकाशक निज शुद्ध प्रत्यगात्मस्वरूप में परिशिष्ट रहता है। चित्त की सभी विभिन्न वृत्तियाँ मुझपर भासित होती और विलीन हो जाती हैं मैं उनका चेतन अधिष्ठान हूँ, मेरे निजस्वरूप में वे नहीं हैं, मैं अन्तःकरण की अपेक्षा न रखकर सर्वदा अपने में प्रकाशमान हूँ, मैं अनुभवस्वरूप हूँ, मुझे जानने में किसी भी वृत्ति की अपेक्षा नहीं पड़ती, अपितु सभी वृत्तियाँ मुझसे ही प्रकाशित होती हैं, मैं निरपेक्ष स्वप्रकाश आत्मा हूँ' ऐसे विवेक और विचार से साक्षिस्वरूप का अवधान और ज्ञान अनायास उत्पन्न होता और मन विलीन हो जाता है।

आत्मा-अनात्मा के विवेक से भी मनोजय सम्पन्न हो जाता है। आत्मज्ञान की प्राप्ति श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप साधनों के अवलम्बन से होती है। आत्मस्वरूप का विचार उत्पन्न होनेपर मन की चञ्चलता सहज ही नष्ट हो जाती है। 'योग' की अपेक्षा 'सांख्य' (सम्यक् ज्ञान) मुक्ति के अधिकतर सन्निकृष्ट है। बाह्य एव आन्तर सभी दृश्य पदार्थ जड़ परप्रकाशित एवं अवस्तुभूत हैं। अनात्मविषय परिच्छिन्न और असत्य होता है। असत्य एव मिथ्याभूत दृश्यपदार्थ सम्बन्धी ज्ञान से भिन्न, स्वयम्प्रकाशमान प्रत्यक् साक्षी-चिन्मात्र (ज्ञानस्वरूपी) आत्मा 'सम्यक् ज्ञान' कहा जाता है, क्योंकि आत्मा अन्तःकरण की सहायता के बिना स्वयं प्रकाशमान है। साभास अन्तःकरणवृत्तिरूप दृश्य तथा दर्शन के परित्याग में साभास द्रष्टाभाव निज निर्विकार निराभास दृक्स्वरूप में विलीन हो जाता है। इस प्रकार

अपने को स्वय साक्षिरूप में अनुभव करना सम्यक् ज्ञान' है। अपने को साक्षिरूप में जानना ही 'सम्यक् ज्ञान' है। मन, बुद्धि और अहंकार के योग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सत्यरूप में प्रतीत होने पर भी वास्तव में असत्य और मिथ्या है। एक रस प्रकाशस्वरूप साक्षी चैतन्य ही जीव का आत्मा है। त्रिपुटी को मिथ्या जानकर अधिष्ठान एवं प्रकाशक शुद्ध, असङ्ग, निर्दृश्यदृक्स्वरूप में आत्मबुद्धि करनी चाहिए। दृढ़ अभ्यास से देहात्मबुद्धि विनष्ट हो जाती है और अन्तिम ब्रह्मात्मबुद्धि का (साक्षात्कारज्ञान का) उदय होता और वासना-सहित मूलाज्ञान नष्ट हो जाता है। तभी निरावरण आत्मचैतन्य स्वयं प्रकाशित होता है। यह 'सम्यक् ज्ञान' कहा जाता है। तीसरे प्रकरण के पहले श्लोक में इसी को 'आत्मबोध' एवं 'समाधि' नाम से निर्दिष्ट किया गया है। मन की सविकल्प या निर्विकल्प वृत्ति (अवस्था) स्वप्न, सुषुप्ति या सापेक्षिक समाधिरूप होने से यथार्थ ज्ञान नहीं है। प्रत्यग्रूप में प्रकाशमान परमात्मा ही सम्यक् ज्ञान है। 'देहादि अनात्म विषयो में अनेक जन्मों के फलस्वरूप जो दृढ़ आत्मभाव अभ्यस्त हो गया है, उनका विनाश एकमात्र आत्म-विचार से ही होता है। 'देहादि दृश्य मिथ्या हैं, उनका अनुभव भी मिथ्या है और तज्जन्य स्मृति तथा संस्कार भी नितान्त मिथ्या हैं। एकमात्र निदृश्य दृक् ही मेरा यथार्थ स्वरूप है, सब दृश्यमान जगत् तथा समस्त जीवों का भी यह अद्वितीय चिदात्मा ही एकमात्र अधिष्ठान और प्रकाशक है' इस प्रकार की युक्तियों की सहायता से असङ्ग, ज्ञान-स्वरूप आत्मा का दृढ़ अनुभव होने पर सभी अनात्मवासनाएँ निवृत्त हो जाती हैं। 'जैसा यज्ञ वैसा बलि' इस न्याय के अनुसार उपचित सजातीय संस्कार का पराभव कर देता है। परिणामस्वरूप पदार्थों की वासना, ज्ञान और स्मृति अत्यन्त असत् हो जाती है।

मिथ्या वस्तु का नाश अधिष्ठान को जानने पर ही होता है। जिस प्रकार स्वप्नदृष्ट पदार्थ जागरण में नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार त्रिपुटी साक्षी के प्रकाश में समस्त दृश्य विलीन हो जाता है। इसका एकमात्र

कारण ज्ञानस्वरूप आत्मा का सम्यक् ज्ञान (आवरणभङ्ग) निरावरण आत्मस्वरूप का स्वयं प्रकाशित होना है। पूर्णात्मा का यह अनावृत प्रकाश ही अद्वैत आत्मसिद्धि का प्रकृष्ट प्रमाण है। विषयचिन्तन, देहादि भावना और जगत् में सत्यताबुद्धि-मन के इन सब बहिर्मुख भावों का परित्याग किये बिना जगत् का मिथ्यात्वनिश्चय, विषय में दोषदर्शन और आत्माकारवृत्ति आदि मन के समस्त अन्तर्मुख भाव उत्पन्न नहीं हो सकते। 'सब दृश्य पदार्थ आविद्यक एवं मिथ्या हैं' ऐसा निश्चय करके 'नेति नेति' इस श्रुतिप्रमाण से द्वैतनिरसनपूर्वक अन्तःकरण को स्वरूप में निमग्न करना चाहिए। शुद्ध अन्तःकरण में दैवी-सम्पत् आविर्भूत होती है। अमानिता, अदम्भिता, मैत्री, करुणा आदि गुणावली आत्मावासना की उत्पत्ति में कारण है। विपरीत वासना की सहायता से काम क्रोधादि वासनाएँ शिथिल हो जाती हैं। संकल्प-विहीन होने पर काम और क्रोध पराजित हो जाते हैं। 'जागतिक सकल पदार्थ अनर्थ के कारण हैं' यह जान लेने पर लोभ उठ नहीं सकता। तत्त्वज्ञान के अभ्यास से भय नष्ट होता है और वेदान्तशास्त्र के अभ्यास से शोकमोह नष्ट होते हैं। इस प्रकार वासना के त्याग से चित्त में विषयाकार वृत्ति उत्पन्न नहीं हो पाती, अन्तःकरण केवल अपरिच्छिन्न आत्माकार में स्वयं आकारित हो जाता है।

इस तरह देखा जाता है कि मन का नैश्चल्यसम्पादन मनोजय या वासनाक्षय (वैराग्य तथा विचार) का फल है। वैराग्य से द्वैतनिरसन सम्भव होता है और विचार की सहायता से आत्माकार-वृत्ति सहज में उत्पन्न होती है। आत्मविचार का नाम ही 'अभ्यास' है। मन की त्रिविध वृत्तियाँ या जाग्रदादि त्रिविध अवस्थाओं का अभाव स्वस्वरूप के विचार से सहज ही सम्पन्न होता है। 'सब त्रिपुटियाँ मिथ्या हैं, वे उनके प्रकाशक मुझमें नहीं रह सकतीं' इस प्रकार अपने साक्षिस्वरूप का अनुसन्धान करने पर मन अचल (आत्माकार में आकारित) हो जाता है। आनात्मवासना के परित्याग से भी मन विषयाकार में

आकारित न होकर प्रत्यग्रूप में आकारित होता है। विषयों का निरसन, साक्षिस्वरूप का अवधान और सजातीय संस्कारों की अभिवृद्धि-साधनमार्ग का सनातन क्रम है। अनात्मवासना से उद्भूत द्वैत पदार्थों का निरसन करके अन्तःकरण का क्षण-क्षण में आत्माकार में अवस्थान सविकल्प समाधि है। अभ्यासजनित संस्कारों (दृढ़ भावना) से चित्त अखण्ड आत्माकार में परिणत होता है। यह निर्विकल्प समाधि है। इसके परिपाक से समस्त भेदवासनाओं का क्षय होता है और परमात्मा स्वयं प्रत्यग्रूपमें प्रकाशित हो जाता है। मनोनाश और वासनाक्षय आत्मज्ञान की सहायता से सम्भव हैं, क्योंकि सद्वस्तु के अवलम्बन से ही कल्पितपदार्थ (मन तथा वासना) का अभाव सिद्ध होता है। इस प्रकार निरावरण आत्मा के प्रकाश में योग और ज्ञान पर्यवसित होते हैं, अतः परिणामस्वरूप एक हैं, किन्तु दोनों से उत्तम मुमुक्षु पुरुष के लिए ज्ञान मोक्ष का सुगम एवं श्रेष्ठ उपाय है। अप्रतिबद्ध या मोक्षप्रद ज्ञान मनोनिग्रह तथा वासनात्याग के युगपत् अभ्यास से सहज प्राप्त होता है। विषयाकार वृत्तियों का निरोध और उनकी मूलभूत अनात्मवासना का शिथिलीकरण - इस तरह दोनों ओर से आक्रमण करने पर मन समूल विनष्ट होकर प्रत्यगात्मा सम्यक् प्रकाशित हो जाता है। इसीलिए मनोलय के अनन्तर वासनोपशम-प्रकरण आरम्भ किया जा रहा है।

वशिष्ठजी ने कहा —

राम स्वात्मविचारोऽयं कोऽहं स्यामितिरूपकः।
चित्तदुर्मबीजस्य दहते दहनः स्मृतः॥ १॥

हे राम! 'मैं कौन हूँ' इस प्रकार निजस्वरूप का अनुसन्धान वासनारूप चित्तबीज को दग्ध कर देता है। चित्त ही सब दुखों का हेतु है। अनन्त विषयों में प्रसारित चित्त बहुशाखासमन्वित वृक्ष कहा गया है। आत्मविचार के बिना वासना का सम्यक् क्षय नहीं हो सकता। हृदय में सद्वासना के उदय से देह एवं जगत्सम्बन्धी असद्वासना निवृत्त होती है और अपने साक्षिस्वरूप का अनुभव होता है।

अपने आपको परिच्छिन्न "अहं" रूप में और भोग्य पदार्थों को सत्य-रूप में निश्चय करना बन्द हो जाता है। चित्त जो विभिन्न विषयों के आकार में परिणत होता उसका एकमात्र कारण अनात्मवासना का उद्रेक ही है। विषय वासना की विरोधिनी शुभवासना का हृदय में उदय होने पर विषयाकार वृत्तियों की निवृत्ति होकर अन्तःकरण में प्रत्यगात्मा का स्वयं अनुभव होने लगता है। निश्चल चित्त में आत्म-स्वरूप का प्रतिफलन (अभिव्यक्ति) अवश्यसम्भावी है, चित्त का क्षण-क्षण में विषयाकार में परिणमन सद्वासना के स्फुरण की सहायता से बन्द हो जाता है। विषयवासनात्याग, मैत्री आदि धर्म का सम्पादन और अमानित्वादि ज्ञानसाधनों के अर्जन से मुमुक्षु अपने को चित्त की 'अहम्, इदम्' आदि वृत्तियों का साक्षात् प्रकाशक, असङ्ग, अविकारी, निर्दृश्य दृक्स्वरूप जान लेता है। अपने को सत्स्वरूप जानने पर ही समाधि के परिपाकक्रम से सद्वासना का सञ्चय और स्फुरण सम्भव होता है। सजातीय संस्कारों की सम्यक् अभिवृद्धि होने पर अन्तिम साक्षात्कारवृत्ति उदित होती है। फलस्वरूप समस्त वासनाएँ निवृत्त हो जाती है और पूर्णानन्द की प्राप्ति होती है।

विचारदर्पणे लग्नां धियं धैर्यधुरं गताम्।
आधयो न विलुम्पन्ति वाताश्चित्रलतामिव ॥ २ ॥

जिनकी बुद्धि आत्मस्वरूप के विचार में दृढ़ संलग्न रहती है, जो निरन्तर अपने को शुद्ध द्रष्टारूप में अनुभव करते हैं, उन्हें मानसिक दुःख वैसे ही कदापि प्राप्त नहीं होता, जैसे चित्रस्थ लता को वायु चञ्चल नहीं कर पाती। विचार से दृढ़ आत्मज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् तत्त्वदर्शी अपने को सहज में ही ज्ञान के संस्कारवशात् या ज्ञेयवासना के बल से परमानन्दस्वरूप जान लेता है। उसका अन्तः करणविशिष्ट जीवभाव शीघ्र विनष्ट हो जाता है। जीवन्मुक्त के समस्त अध्याय (मैं, मेरा, वह आदि दृढ़ बुद्धि) निवृत्त हो जाते हैं, जिससे उनके चित्त को कभी किसी प्रकार का संसर्ग (दुःख का स्पर्श) नहीं हो पाता। रोग और ताप चित्त के विकार (अविद्या के कार्य) हैं।

अज्ञानी मनुष्य उन्हें सत्य समझता है और व्यर्थ ही दुःख भोगता रहता है। तत्वज्ञ पुरुष परमार्थ सत्य निजस्वरूप में दुःख शोक का लेशमात्र भी अनुभव नहीं करता। 'मैं परमानन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ' ऐसे ज्ञान के संस्कार उन्हें अनुवृत्त रहते हैं, इसलिए वे अपने निरावरण ब्रह्मात्मस्वरूप में नित्य स्थित रहते हैं। अतएव उन्हें त्रिपुटीरूप द्वैत का अनुभव नहीं होता। जिनके सुखःदुख विकार निवृत नहीं हुए हैं, वे ज्ञानी नहीं हैं। तत्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय का समकाल में अभ्यास 'योगवाशिष्ठ' में उपदिष्ट हुआ है। अन्तःकरण-सम्बन्धी विकारोंके प्रकाशक निज साक्षिस्वरूपमें किसी प्रकार के विकार स्पर्श नहीं कर सकते। विकारी वस्तु साक्षी नहीं हो सकती। 'मैं बुद्धि के सभी विकारों का ज्ञाता, अतएव अविक्रिय हूँ' ऐसा दृढ़ (निःसन्दिग्ध अविपर्यस्त) निश्चय आत्मदर्शी पुरुष को अनुवृत्त रहता है। सुख-दुःख का सामान्य अनुभव होने पर भी जीवन्मुक्त की उनमें दृढ़ प्रतीति या संसर्गाध्यासवश सत्यताबुद्धि नितान्त निवृत्त हो जाती है। 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः' इस गीतोक्ति का भी यही तात्पर्य है।

विचारोऽध्यात्मविद्यानां ज्ञानं तत्त्वविदो विदुः।
ज्ञेयं तस्यान्तरे वास्ति माधुर्यं पयसो यथा ॥३॥

ब्रह्मविद्या के विचार को पण्डितगण 'ज्ञान' कहते हैं। जैसे दूध में मधुरता का अनुभव होता है, वैसे ही ज्ञान में भी ज्ञेय ब्रह्म अनुभूत होता है। विचार के फलस्वरूप अपने आपका शोधित त्वं और तत् पद के लक्ष्यार्थ, निष्कृष्ट, एकरस प्रत्यग्ब्रह्मरूप में साक्षात्कार करने पर कतकरेणु की तरह वृत्तिज्ञान निवृत्त हो जाता और स्वयम्प्रकाश चिदानन्द ब्रह्म ही परिशिष्ट रहता है। महावाक्य के विचार से साक्षात्कारवृत्ति का उदय हुए बिना अपना पूर्णात्मस्वभाव सर्वदा और

सहज भाव में प्रकाशित नहीं हो पाता। मुक्तिसुख केवल आत्मविचार की सहायता से प्राप्त होता है।

जीवन्मुक्त का महात्म्य वर्णन करते हुए कहते हैं—

विचारेण परिज्ञात स्वभावस्योदितात्मनः।
अनुकम्प्या भवन्तीह ब्रह्मविष्णुशिवादयः ॥४॥

जिन्होंने आत्मविचार द्वारा अपने को साक्षात् निर्गुण ब्रह्मस्वरूप जान लिया हैं, ऐसे दृढ़ अपरोक्षज्ञानी के निकट सगुण ब्रह्मा, विष्णु और शिव दया के पात्र होते हैं। ब्रह्मज्ञानी सोपाधिक ऐश्वरभाव को मायिक एवं मिथ्या समझते है। 'ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाऽहम' इस गीता-श्लोक का भी यही रहस्य है।

किमिदं विश्वमखिलं किं स्यामहमिति स्वयम्।
विचार निरतस्यैतदसदेव भवेज्जगत् ॥५॥

'यह जगत् क्या है? मैं ही कौन हूँ' इस प्रकार जो निरन्तर अनुसन्धान करते रहते हैं, वे विचार के फलस्वरूप अपने को प्रकाशस्वरूप, परमार्थसत्य ब्रह्मरूप में साक्षात् अनुभव करते है और जगत् को केवल मिथ्याभूत समझते हैं; क्योंकि अवस्तुभूत जगत् उनकी दृष्टि में कभी भासमान (सत्यरूप में प्रतीयमान)नहीं होता। जगत् मिथ्या है, क्योंकि विचार करने पर (विषयाकार वृत्तिरहित और अचल अन्तःकरण की सहायता से निज सहज स्वरूप में स्थित होने पर) जगत् की उपलब्धि नहीं होती। निज निर्गुण ब्रह्मभाव सर्वदा सत्य है, क्योंकि सकल अनात्म पदार्थों का निरसन होने पर उनके अवधिरुप में (परिशिष्टरूप में) प्रत्यग्ब्रह्म स्वयं प्रकाशित होता है (देखिये १६ वाँ श्लोक)।

आत्मविचार की महिमा वर्णन करते हुए कहते हैं—

यस्य मौर्ख्यं क्षयं यातं सर्वं ब्रह्मेति भावनात्।
नोदेति वासना तस्य प्राज्ञस्याम्बुमतिर्मरौ ॥६॥

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस अद्वैत ब्रह्मबोधक श्रुत्यर्थ के प्रत्यक्ष अनुभव से जिनका अज्ञान निवृत्त हो गया है, उनके हृदय में फिर कभी अनात्म-वासना,वैसे ही उदित नहीं हो सकती, जैसे कि जलरहित स्थान में बुद्धिमान पुरुष को कभी जलबुद्धि नहीं होती। आत्मविचार जितना-जितना अभ्यस्त होगा, आत्मवासना उतनी ही बढ़ती जायगी और विषयवासना मन्द होती जायेगी। परिणामस्वरूप आत्मसाक्षात्कार होने पर द्वैतवस्तु का आत्यन्तिक अभाव सिद्ध होता और समस्त इच्छाएँ निवृत्त हो जाती है। ज्ञानी के हृदय में कभी विषय की दृढ़ इच्छा उठ नहीं सकती। जीव सर्वदा मन बुद्धि का साक्षात् प्रकाशकमात्र होता हुआ भी भ्रम से अपने को परिच्छिन्न (अन्तःकरणविशिष्ट) 'अहं' (कर्त्ता, भोक्ता, प्रमाता, सुखी, दुःखी) समझता है। 'अहम्भाव मेरा निजी स्वरूप नहीं है, क्योंकि वह दृश्य पदार्थ है, जागरण तथा स्वप्न में उसके आविर्भाव और सुषुप्तिकाल में उसके तिरोभाव की मैं प्रत्यक्ष उपलब्धि करता हूँ, मैं अहम्भाव का साक्षी, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा समाधि सभी अवस्थाओं में वर्तमान, सब अवस्थाओं से असम्पृष्ट, असङ्ग, अपरिच्छिन्न, एकरस, निराभास चैतन्यमात्र हूँ, इस प्रकार 'अहङ्कार' दृश्य से सर्वथा विलक्षण, निजचिन्मात्रस्वरूप का साक्षात्कार उदित होने पर परिच्छिन्न 'अहं' भ्रम निवृत्त हो जाता है। 'अहं' भ्रम के अपगत हो जाने पर चित्त में जो कामाभास (३ य प्रकरण का ७ वाँ श्लोक देखिये) दिखलाई पड़ता है, वह भी प्रारब्धभोग से क्रमशः नष्ट हो जाता है। इसीलिए ज्ञानी के चित्त में कोई नवीन इच्छा दृढ़-रूप में उदित नहीं होती, क्योंकि किसी भी अवस्था में उसे कर्त्ता भोक्ताभाव या अहमध्यास अथवा विषय में रमणीयताबुद्धि (शोभनाध्यास) नहीं होती।

वासनासम्परित्यागाच्चितं गच्छत्यचित्तताम् ।
प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छसि तथा कुरु ॥७॥

प्राणस्पन्द के निरोधन से वासना नष्ट होती है और वासना का नाश होने से चित्त अचित्त (चित्स्वरूप) ही हो जाता है। चित्त का क्षय हो जाने के उपरान्त जैसी इच्छा हो, वैसा कर सकते हो, क्योंकि फिर कर्म बन्धन नहीं कर सकता। इस श्लोक में वासना-नाश का उपाय और फल बतलाया गया है। 'योगतारावली' या भुशुण्डोपाख्यान में कथित 'प्राणविद्या' के अभ्यास से सहज में ही प्राण का निरोध (श्वासप्रचार का प्रशमन या केवल कुम्भक) सम्भव होता है। जहाँ प्राण अस्त हुआ, पर अपान का अभी उदय नहीं हुआ या जहाँ अपान समाप्त हो गया है, किन्तु प्राण अभी उदित नहीं हुआ—ऐसी प्राण और अपान की सन्धि (जहाँ देश, काल पदार्थ कुछ भी नहीं है)—प्राणापान के मध्यभाव में प्राण और अपान द्वारा उपलक्षित एवं प्राणापान विवर्जित आत्मतत्व में, केवल कुम्भक की सहायता से, यदि लक्ष्य स्थिर हो, तभी विषयाकार समस्त वृत्तियों का परित्याग करके मन क्षण-क्षण में प्रत्यगात्मा में संलग्न होता है और मन के प्रत्यगाकार में आकारित होनेपर योगी सहज में ही आत्मा का अनुभव ('मैं प्रत्यग्ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान) प्राप्त कर लेता है।

अखिल दृश्यमान प्रपञ्च में उदासीनभाव का अवलम्बन करने से भी अवहित चित्त में संकल्प नहीं उठने पाते। फलतः प्राण भी स्पन्दित नहीं होता और विषयाकारवृत्ति भी उत्थित नहीं हो पाती। एवञ्च धीरे-धीरे वासना नष्ट होती जाती है। क्षण-क्षण में विषयाकारवृत्ति के वजन से चित्त चित् ही हो जाता हैं, क्योंकि विषय का चिन्तन 'तकार' कहा जाता है। विषय का चिन्तन जितना ही छोड़ा जाता है, स्थिरीभूत, सात्विक, अन्तर्मुख चित्त में उतना ही आत्मस्वरूप का अनुभव स्वयं ही होने लगता है। अन्त में चरम साक्षात्कारवृत्ति का उदय होकर समस्त अनात्मवासनाएँ समूल (अज्ञानसहित) नष्ट हो जाती है। जीवन्मुक्त का आचरण प्रारब्धानुसार स्वाभाविक होता है। वह चाहे किसी भी भाव में रहे, चाहे जो भी कार्य करे, सर्वदा मुक्त ही रहता है, कभी बन्धन को प्राप्त नहीं होता—यह पहले विस्तृत रूप से प्रतिपादित किया जा चुका है। ज्ञानी का यथेच्छाचरण

सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञानदशा में अनेक जन्मों में अभ्यस्त शुभ वासनाओं की ही सहज अनुवृत्ति होती है।

'उत्तम मुमुक्षु पुरुष शीघ्र ही ब्रह्मनिष्ठ होते हैं,' यह कहकर भगवान् वशिष्ठ हम लोगों को प्रोत्साहित करते हैं—

साधुसङ्गमच्छास्त्रपरो भवसि सन्मते।
तद्दिनैरेव नो मासैः प्राप्नोषीमां परां धियम् ॥८॥

विचारशील राम! यदि तुम सत्सङ्ग और सच्छास्त्रपरायण हो जाओ, तो थोड़े ही दिनों में तुम्हारी बुद्धि ब्रह्मनिष्ठ हो जायेगी, दो-चार मासों की भी आवश्यकता न पड़ेगी। 'जीव और जगत् का तत्व क्या है, मैं क्या देहादिविशिष्ठ, जन्म-मरणशील प्राणी हूँ, ईश्वर क्या मुझसे भिन्न है, यह जगत् क्या सत्य है, मरण के उपरान्त भी क्या मैं रहूँगा; सुख-दुःख धर्माधर्म क्या हैं, आत्मा और परमात्मा का स्वरूप क्या है, भक्ति और ज्ञान किसे कहते हैं'—आदि विषयों का सम्यक् अवधारण साधुसङ्ग तथा वेदान्तशास्त्र से सुगम हो जाता है। फलतः परमार्थसत्य प्रत्यक् ब्रह्म में बुद्धि संलग्न हो जाती है और अवस्तुभूत अनात्मविषय विरस हो जाते हैं। 'त्रिपुटी दृश्य मिथ्या है, निर्दृश्य दृक् परमार्थसत्य है' ऐसा निश्चय होने पर वैराग्य तथा अभ्यासयोग की सहायता से बुद्धि साक्षितत्व में दृढ़ रूप से स्थित होती है। ऐकात्म्य-प्रत्यय की दृढ़ता होने पर 'सृष्टिसमीक्षा' में प्रदर्शित क्रमानुसार अति-शीघ्र ब्रह्मबोध उदित होता है। (इस विषय में 'चित्तविश्रान्ति', 'आत्मनिरूपण', 'साधनरहस्य' निबन्धों पर मुमुक्षुओं को विशेष ध्यान देना चाहिये)।

'बृहतिसंहिता' में भी मुक्तिप्राप्ति की सुलभता इस प्रकार प्रदर्शित है—"यथा चित्तं समासक्तं जन्तोर्विषयगोचरे। यदि नारायणेऽप्येवं को न मुच्येत बन्धनात् ॥ १ ॥ अशास्त्रदृष्टमार्गेषु यथा चित्तक्षयो भवेत्। यदेवं शास्त्रदृष्टेषु को न मुच्येत् बन्धनात् ॥ २ ॥ आदरेण यथा स्तौति धनवन्तं धनेच्छया। तथा चेद्विश्वकर्तारं को न

मुच्येत बन्धनात् ॥ ३ ॥ यथा सुनिपुणः सम्यक् परदोषेक्षणं प्रति । तथा चेन्निपुणः स्वेषु को न मुच्येत बन्धनात् ॥ ४ ॥ अर्थार्थं यानि कर्माणि करोति कृपणो जनः । तान्येव यदि मोक्षार्थं को न मुच्येत बन्धनात् ॥ ५ ॥ याक्त् प्रलपते हृष्टो देशराज्यादिकं बहु । तावच्चेत्प्रलपेत् शास्त्रं को न मुच्येत बन्धनात् ॥ ६ ॥ स्तूयमानो यथा नित्यं सुप्रसन्नो भवेन्नरः । यद्येवं निन्द्यमानोऽपि को न मुच्येत बन्धनात् ॥७॥ प्राणी का चित्त जैसा विषयों में आसक्त है, वैसा ही यदि भगवान् नारायण में आसक्त हो. तो भला बन्धन से कौन मुक्त न हो जाय ? (१) अशास्त्रदृष्ट मार्ग की ओर जितना चित्त आकृष्ट होता है उतना यदि वह शास्त्रदृष्ट मार्ग की ओर होता, (२) धन की लालसा से आदरपूर्वक जैसे धनवान् की स्तुति करता है, वैसी विश्वरचयिता की स्तुति करे, (३) पराये दोषों को देखने में जैसा चतुर है, वैसा यदि अपने दोषों के निरीक्षण में हो, (४) दीन होकर मनुष्य अर्थोपार्जन के लिए जिन कर्मों को करता हैं, यदि मोक्ष के लिए उन्हें करे, (५) देश, राज्यादि के विषय में जितना अधिक बोलता है, उतना यदि शास्त्र का अध्ययन करे(६) और अपनी स्तुति सुनकर जैसा प्रसन्न होता है, वैसा ही निन्दा किये जाने पर भी प्रमुदित हो, तो भला कौन व्यक्ति बन्धन से मुक्त न हो जाय ? ,।

आचार्य भी कहते हैं—"गुरुचरणाम्बुजनिर्भर भक्तः संसारादचिराद्भव मुक्तः । सेन्द्रियमानसनियमादेव द्रक्ष्यसि निजहृदयस्थं देवम् ॥' निश्चल चित्त में अनायास ही आत्मा का अनुभव सिद्ध होता है । निर्भरता और भक्ति वैराग्य के हेतु हैं और इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि का नियमन अभ्यास योग का हेतु हैं । भक्ति के मूल ईश्वर निर्भरता का आचार्य शङ्कर युक्तिपूर्वक प्रतिपादन करते हैं—"का तेऽष्टादशदेशे चिन्ता वातुल तव कि नास्ति नियन्ता । यस्त्वां हस्ते सुदृढ़ निबद्धं बोधयति प्रभावादिरुद्धम् ॥' सब जीवों का नियामक ईश्वर है, वह प्रारब्ध कर्मों का फल प्रदान करता है । इसी कारण जीव ईश्वर के हाथ में अत्यन्त दृढ़ता से जकड़ा हुआ है । ईश्वराज्ञा का ब्रह्मा,

विष्णु और शिव भी उल्लङ्घन नहीं कर सकते । अतः 'हाय, तब मैं क्या करूँगा, मेरा निर्वाह कैसे होगा' आदि चिन्ताएँ बिलकुल निरर्थक हैं, क्योंकि जो नियति से निर्दिष्ट है, वह अवश्य होकर रहेगा और जो नहीं होने का है, वह कभी न होगा । इस प्रकार की निष्ठा के परिणामस्वरूप भगवत्कृपा से मुमुक्षु के हृदय में विचार अंकुरित होता है—'मैं वस्तुतः कौन हूँ' यह जानने की इच्छा जाग उठती है । उस समय यह जीव और जगत् की उत्पत्ति, स्थिति आदि को स्वप्नवत् मिथ्या निर्धारित करता है (यहाँ अग्रिम ११ वाँ श्लोक भी देखिए) ।

अब वासनाक्षय के तीन साधन बतलाये जाते हैं—

सत्सङ्गव्यवहारित्वाद् भवभावनवर्जनात् ।
शरीरनाशदर्शित्वाद् वासना न प्रवर्तते ॥९॥

यहाँ 'असङ्गव्यवहारित्वात्' और 'भावना न च वर्त्तते' ऐसा भी पाठान्तर मिलता है । सत्पुरुषों के सङ्ग से अवगत आचरण का अनुकरण या अनासक्त होकर व्यवहार करना, दृश्यमान प्रपंच (अनात्म-विषयों) के चिन्तन का परित्याग और शरीर की नश्वरता का निश्चय-इन तीन उपायों से वासना नष्ट हो जाती है । साधुपुरुषों के सभी व्यवहार अनासक्त होकर होते हैं । ऐसे व्यवहारों के अनुकरण से मुमुक्षु का कर्तृत्व भोक्तृत्वाभिमान नष्ट हो जाता है और उसके अन्तःकरण की विषयवासना शिथिल हो जाती है । 'समस्त प्रपंच मिथ्या हैं, ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ भी सत्यरूप में भासित होता है, वह वास्तव में सत्य नहीं है, वह भ्रम से प्रतीत होता है'—मुमुक्षु को सर्वदा ऐसा निश्चय करते रहना चाहिए । 'ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या है'—सत्यासत्य विषयक् यह सिद्धान्त मनुष्य के हृदय में यदि सर्वदा जागरूक रहे, तो उसकी विषय-वासना अवश्य नष्ट हो जायगी । शरीर को नित्य या चिरस्थायी समझना कदापि उचित नहीं है । 'देह अनित्य एवं विनश्वर है, उसका नाश अवश्य ही होगा' ऐसी

विवेकबुद्धि हृदय में सर्वदा अवश्य जागृत रखनी चाहिये। जिसके हृदय में तीव्र वैराग्य उत्पन्न है और जिसकी बुद्धि आत्मा तथा अनात्मपदार्थ के विवेक से सम्पन्न है, वह शरीर को नाशवान् एवं अनित्य करता है और उसकी वासना का क्षय हो जाता है (देखिये आगे का ११ वाँ श्लोक)। भावना के अनुसार वासना उत्पन्न होती है। इसलिये अनात्मभावना का परित्याग करके ब्रह्मभावना का अभ्यास करना चाहिए, परमात्मवासना ही अनात्मवासना के पराभव में समर्थ होती है।

भासना की अद्भुत सामर्थ्य बतलाते हुए कहते हैं—

दृढभावानुसन्धानाद् विमूढा अपि राघव।
विषं नयन्त्यमृततामामृतं विषतामपि ॥१०॥

'मैं, दृश्यमान जगत् और जीव सब कुछ ब्रह्म ही है' ऐसे दृढ़ ब्रह्मभाव के अनुसन्धान से अज्ञपुरुष की दृष्टि में भी भविष्य में दुःखप्रद अतः विषतुल्य संसार अमृत ब्रह्मरूप में परिणत हो जाता है और अज्ञानदशा में अमृत की तरह भासमान विषयसुख विषतुल्य प्रतीत होने लगता है। भावना के अनुसार ही फलप्राप्ति होती है (देखिये 'त्रिपुरारहस्य' ज्ञान-खण्ड का १४ वाँ अध्याय)। मन के सांसारिक बहिर्मुख प्रवाह को उलटाकर निरन्तर अन्तर्मुख प्रत्यगभिमुखको प्रवाह प्रवाहित करना जीव का कर्तव्य है। मन निरन्तर विषय चिन्तन में व्यापृत रहता है इसीलिए वह काम क्रोधादिजनित अनेकविध दुःखों का अनुभव करता है (देखिये 'सुख और दुःख विवेक' निबन्ध)। अतः मन को धीरे-धीरे स्वरूपचिन्तन में नियुक्त करना उचित है। देखिये, 'स्वरूपचिन्तन' निबन्ध)। विषयों में दोषदर्शन से उनमें अनास्था होती है, शरीरयात्रा का निर्वाह (योग-क्षेम) ईश्वरनियति द्वारा निर्दिष्ट प्रारब्ध से अवश्य ही चलता रहता है। अतः सांसारिक चिन्ताओं से शून्य, निश्चल अन्तःकरण में स्वयं प्रत्यगानन्द का अनुभव होने लगता है और वैराग्यादि साधनचतुष्टय पूर्वरूप से आविर्भूत होता है।

अभ्यासयोग से दृढ़ीकृत ब्रह्मभावना देहादि जगद्भावनाका समूल विनाशकर देती हैं। साक्षात्कार के उदय से मूलाज्ञान निवृत्त हो जाता है। फिर वह ज्ञान भी कतकरेणु की तरह स्वयं नष्ट हो जाता है। इस नाश या बाध की पर्यवसानभूमि प्रत्यगानन्द स्वरूप, स्वयम्प्रकाश ब्रह्म है। समस्त भावना या कल्पनाओं की परिसमाप्ति निज अनुभवस्वरूप में होती है। त्रिपुटीरहित यह शुद्ध अनुभव (केवल संवित) ही परमार्थसत्य है।

देहभावनाके सम्बन्ध में फलाफल का निर्देश करते हुए वशिष्ठजी कहते हैं—

सत्यभावेन दृष्टोऽयं देहोऽ देहोभवत्पलम्।
दृष्टस्त्वसत्यभावेन व्योमतां याति देहकः ॥११॥

'यह देह सत्य है, ऐसा निश्चय करने से देह अत्यन्त सत् हो जाता है, देहपरम्परारूप ससरण प्राप्त होता हैं। किन्तु उसी देह में असत्यता बुद्धि करने पर देह प्रतिभासित न होकर मुक्तिसुख का अनुभव होता है। विवेक और विचार का अवलम्बन करने से देह असत्य प्रतीत होने लगता है। इससे भय, शोक, दुःख आदि विकार उत्पन्न नहीं होते। अतः वासनानाश के लिए देहभावना का त्याग करना चाहिए। देह में सत्यताबुद्धि ('मैं देह हूँ, देह मेरी है या मैं देहयुक्त हूँ, देह के बिना मैं नहीं रहता, ऐसा निश्चय) उत्पन्न होने पर स्वस्वरूप आच्छादित हो जाता है देहवासना बढ़ने लगती है और दाम, व्याल तथा कटकी तरह अनन्त जन्मों एवं दुःखपरम्पराओं का अनुभव करना पड़ता है। 'मैं देह नहीं हूँ, मैं अशेषविशेषशून्य प्रत्यक्साक्षी हूँ' ऐसी भावना से भीम, भास तथा दृढ़की तरह मुक्ति सुख सहज ही अनुभूत होता हैं। देह को काष्ठलोष्ठ के समान समझ लेने पर अह-ममभाव शिथिल होने लगता है और मन संकल्प-विकल्पशून्य हो जाता है। दृश्य जगत् देह के अवलम्बन से स्फुरित होता है, देह ही चित्त का आलम्बन है। देह में तुच्छतावुद्धि या देह के भरण-पोषण मे उदासीन्य (आगे का श्लोक देखिये) होने पर चित्त का आलम्बन नष्ट हो जाता है और वह (चित्त) शान्त

हो जाता है। उस समय प्रत्यक् तत्व का विमर्श सम्भव होता है- संकल्प-विकल्प का मूल विच्छिन्न हो जाता है और विश्व तैजस, प्राज्ञभाव के ऊपर स्थित निज निर्विकल्प सुखसंवित् का साक्षात् अनुभव होता है (देखिये 'आनन्दतत्व-मीमांसा')। इस प्रकार निज, नित्य, पूर्ण सुख सहज ही प्राप्त होता है। मूर्ख मनुष्य इसमें विश्वास नहीं करता और इसकी प्राप्ति के साधन में यत्नशील नहीं होता। फलस्वरूप वह निरन्तर परिश्रम करके भी वास्तविक सुख से वञ्चित रहता है। इस प्रकार बहिर्मुख विवेकहीन मनुष्य व्यर्थ ही विविध क्लेश भोगता रहता है।

दृष्टान्त द्वारा देह का मिथ्यात्व अनुभव कराते हुए कहते हैं—

सुखतल्पगतो येन स्वप्ने देहेन दिक्तटान्।
परिभ्रमसि हे राम स देहस्तु क्व साम्प्रतम् ॥१२॥

यहाँ "दिगन्तान् येन देहेन स्वप्ने तल्पगतश्च त्वम्। परिभ्रमसि हे राम स देहस्तु क्व साम्प्रतम् ॥" ऐसा पाठान्तर है। अर्थात् सत्यरूप में प्रतीयमान देह के मिथ्यातत्वनिरूपण में दृष्टान्त दिया जाता है-हे राम सुखशय्या पर सोते हुए तुम स्वप्नावस्था में जिस देह से पूर्वादि दिशाओं में भ्रमण करते हो, तुम्हारी वही देह जागरण में कहाँ जाती है? जैसे जागरण में स्वप्नकालीन देह सर्वथा असत्य अनुभूत होती है- 'स्वप्न समय में भी नहीं थी" ऐसी जागृत में प्रत्यभिज्ञ होती है, ठीक इसी प्रकार तत्वज्ञान न होने तक अज्ञान-दशा मे प्रत्यक्ष अनुभूत होने पर भी यह शरीर वस्तुतः असत्य है। ज्ञानदशा में जब शरीर का मिथ्यात्व प्रत्यक्ष अनुभूत होता है, तब पता लगता है कि अविद्यादशा में भी वस्तुतः वह नहीं था। देहादि जगत् किसी भी समय नहीं है, न हो सकता है। समस्त प्रपञ्च सर्वथा मिथ्या है। जो आत्मा भ्रम से कल्पित दृश्य के भाव-अभाव का प्रकाश करता है, साक्षात् जानता है, वही अशेष दृश्यरहित प्रत्यगात्मा, निर्विषय प्रकाशस्वरूप केवल 'अहम' ही सत्य है। प्रत्यभिज्ञा की सहायता से इस अर्थ का पुनः पुनः मनन करने पर सहज

ही देह में तुच्छताबुद्धि उत्पन्न होती है। विचार के बिना वैराग्य दृढ़ नहीं हो पाता। 'देहादि समस्त प्रपञ्च असत्य है'—पूर्वोक्त प्रकार से हृदयङ्गम कर लेने पर अनायास ही विषय वैरस्य (सात्विक त्याग) हो जाता है। राजसिक और तामसिक त्याग फलपर्यवसायी नहीं होते—त्याग या वैराग्य के सम्बन्ध में यह एक अत्यन्त ज्ञातव्य रहस्य है (देखिये 'सर्वत्याग या संन्यास')।

देहोऽहमिति धीस्त्याज्या सर्वनाशेऽप्युपस्थिते।
स्प्रष्टव्या सा न भव्येन सश्वमांसेव शूकरी ॥ १३ ॥

यहाँ 'चाण्डाली सश्वमांसेव स्प्रष्टव्या न हि साधुना' ऐसा भी पाठान्तर दिखलाई पड़ता है। अर्थात् सर्वनाश उपस्थित होने पर भी मुमुक्षु को देह में आत्मबुद्धि का सर्वथा त्याग करना चाहिए। जो सदाचार निरत रहते है, वे कुत्ते के मांस से युक्त चाण्डाली का कभी स्पर्श नहीं करते। 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं' रूप संसार चक्र में परिभ्रमण और अशेष दुःखराशि के भोग की अपेक्षा समस्त धन-सम्पत्ति का नाश भी अधिकतर वाञ्छनीय है। जब तक देह विद्यमान रहती है, तब तक ज्ञानी पुरुष को भी प्रारब्धवशात् अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं। फिर देह को सत्य एवं सुखरूप मानकर उसमें आसक्त होने पर तो दुःखप्रद संसरण कभी भी निवृत्त न होगा—यही 'श्वमांस' और 'पुल्कसी, रूप दृष्टान्त में द्विगुणित अशुद्धिज्ञापन का अभिप्राय है।

प्रस्तुत आत्मविचार की महिमा पुनः दृढ़ करते हुए कहते हैं –

ब्रह्मैकं भावयन् साधुः शान्तस्तिष्ठन् गतव्यथः।
ततस्तेऽसावहम्भावः स्वयमेव विनश्यति ॥१४॥

एकमात्र ब्रह्मचिन्तन में निरत होकर जब तुम निर्दुःख (निर्विकार, निर्वृत्तिक) और शान्त (अखण्ड ब्रह्माकार में आकारितचित) स्थित होगे, तब स्वयमेव तुम्हारा देहात्मनिश्चय नष्ट हो जायगा। ब्रह्म-भावना (आत्मविचार) ही वासनोपशम का सर्वोत्तम उपाय है।

अनात्मचिन्तन क्षण-क्षण में परित्याग करने से ही आत्मभावना (निदिध्यासन) स्वतः प्राप्त हो जाता है। विषयसम्बन्धी सङ्कल्प या इच्छा जितने अंश में हृदय में उठने न पायेगी, उतने ही अंश में—रिक्तघट में आकाश के प्रवेश के समान—भीतर सर्वदा विद्यमान प्रत्यक् साक्षी चित्त को निज, निरवच्छिन्न स्वप्रकाश आनन्द में सहसा भर देगा (इसका विशद विवेचन 'चित्तविश्रान्ति' तथा 'साधनरहस्य' में देखिये)। फलस्वरूप प्राचीन विषयवासना का गन्ध कम होने लगेगा और शुद्ध आत्मवासना हृदय को पूर्ण करने लगेगी। परमात्म-वासना का प्रकृष्ट प्रचय होने पर साक्षात्कार का उदय होगा और अन्त में देहभाव समूल नष्ट हो जायगा। यही वासना का सम्यक् क्षय या 'वासनोपशम्' है।

सर्वत्रैक्यावबोधेन स्वस्थान्तःशीतलः सदा।
निरहङ्कृतिराकाशविशदस्तेन संस्थितः॥ १५॥

यहाँ 'आकाशो विशदस्तेन संस्मृतः' ऐसा भी पाठान्तर है। अर्थात् 'ब्रह्मा से लेकर वृक्षादि अचल पदार्थों तक इस दृश्यमान प्रपंच में एक-मात्र ब्रह्म ही विभिन्न पदार्थों के आकार में भासमान है, ब्रह्मातिरिक्त दूसरा कुछ भी इस संसार में नहीं है' ऐसी दृढ़ भावना से आनन्दमग्न होकर मुमुक्षु निजस्वरूप में अवस्थित होते हैं। उस समय उनका परिच्छिन्न अहम्भाव नष्ट हो जाता है और वे आकाशवत् निर्मल, देहात्मबुद्धि रहित और निर्वासनिक हो जाते हैं। सारांश यह है कि ब्रह्मभावना के बिना देहात्मबुद्धि कभी भी निवृत्त नहीं हो सकती। अतः मुमुक्षु को सर्वदा आत्मविचार करते रहना चाहिए। (देखिये १६ वाँ श्लोक)।

पूर्वोक्त १० वें और ११ वें श्लोक की अनुवृत्ति करके 'आन्तरिक निश्चय (दृढ़भावना या वासना) के अनुसार ही बाह्य प्रतीति (त्रिपुटीपूर्वक पदार्थानुभव) होती है' यह अत्यन्त गूढ़तत्त्व पाँचवें प्रकरण के उपसंहार संगृहीत किया जा रहा है—

अन्तः शीतलतायां हि लब्धायां शीतलं जगत् ।
अन्तस्तापोपतप्तानां दावदाहमयं जगत् ॥१६॥

ब्रह्मभावना के दृढ़ अभ्यास-योग से अभिवृद्ध, अत्यन्त बलवान् संस्कार के परिणामस्वरूप साक्षात्कार का उदय होने पर जब मुमुक्षु अपने निरावरण (परिज्ञात) अखंड आनन्दस्वरूप में निमग्न हो जाते हैं, तब सम्पूर्ण जगत् आनन्दमय प्रतीत होता है। जिसका चित्त भीतर विषयों की आशा से सन्तप्त रहता है, उसके लिए बाहरी संसार भी अग्नि के समान तापयुक्त हो जाता है। भीतर जो अनुभूत होता है, वही बाहर दिखलाई पड़ता है, अन्य कुछ भी नहीं। अंतःकरण-वृत्ति की सहायता से जीव जो कुछ (जीवसृष्टि) अनुभव करता है, वह आनन्दमय कोश में उद्भूत (साक्षीभास्य) वासना का ही परिणाम है—विज्ञान मय कोश में स्पष्टरूप से अवतरण है। जीव, जगत्, सुख, दुःख जो कुछ हम देखते, सुनते या अनुभव करते हैं, वह सब तत्तत् वासना या अविद्या का विलासमात्र है, वस्तुभूत कुछ भी नहीं। इसीलिए जाग्रत् और स्वप्नकालसम्बन्धी अनुभव एक ही प्रकार की जीवसृष्टि (वासना का विजृम्भण) मिथ्या प्रतिभासमात्र है। जिस प्रकार स्वप्न में प्रतीयमान प्रपञ्च मिथ्या है, उसी प्रकार अखिल जाग्रत्-प्रपञ्च भी मिथ्या है। बाहर ब्रह्म के अतिरिक्त कोई भी सत्य पदार्थ विद्यमान नहीं है, वासना ही जगद्रूप में विलसित होती है। वासना के नष्ट होने पर सारा जगत् नष्ट हो जाता है—'अहो बुधा निर्मल-दृष्टयोऽपि किञ्चित पश्यन्ति जगत् समग्रम्।" मिथ्या पदार्थ की वासना भी मिथ्या है। पदार्थ, अनुभव स्मृति और संस्कार, पुनः स्मरण और दर्शन यह चित्ताकर्षक मौर्ख्यचक्रिकामात्र है। परमार्थबोध की दशा में सकलदृश्यरहित द्रष्टा (निर्विषय प्रकाश एवं आनंदस्वरूप प्रत्यगात्मा) अद्वितीय में ही विराजमान रहता हूँ (इस सम्बन्ध में हृद्बोधजनक एवं सन्देहनिवारक निरूपण 'सृष्टिसमीक्षा' नामक विस्तृत लेख में किया गया है)। दृढ़ ज्ञानवश अविद्या-आचरण के नष्ट होने पर परमानन्द प्राप्ति होती है यह समग्र 'योगवाशिष्ठ' ग्रंथ का निष्कर्ष है)। ●

मन तथा वासना के कारण स्वस्वरूप-प्राप्ति में विघ्न उत्पन्न होता है। महावाक्य का श्रवण होने पर भी (जगत का मिथ्यात्व और आत्मब्रह्म का सत्यत्व अवधारित होने पर भी) अनेक जन्मों के अज्ञान सम्बन्धी संस्कारवश अन्तःकरण में बार-बार भ्रम उदित होता है, और जगत् सत्य सा प्रतीत होता है। यह मन तथा वासना का परिणाम है, इसे 'असम्भावना' कहा जाता है। इसलिए पहले के दो प्रकरणों में मनोलय एवं वासनोपशम की आवश्यकता तथा उनके उपायों (साधनों) का उल्लेख किया गया है। इसके परिणामस्वरूप मुमुक्षुओं को ज्ञात हो चुका है कि अध्यात्मशास्त्र के श्रवण या विचार के सिवा दूसरे सभी उपाय व्यर्थ होते हैं। शास्त्रश्रवण से अन्तःकरण में यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि वेदवाक्य प्रमाणभूत है। अर्थात् वेदान्तशास्त्र के निरन्तर श्रवण से 'प्रमाणविषयक' असम्भावना नष्ट हो जाती है और यह दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो जाता है कि समस्त सृष्टिसम्बन्धी उपपत्ति या समन्वय केवल श्रुतिसिद्धान्त में ही सम्भव है। अध्यात्मशास्त्र श्रवण की यही उत्कृष्ट महिमा है।

सत्संग तथा शास्त्रश्रवण से प्रमाण सम्भावना के नष्ट होने पर भी ('ब्रह्म सत्य हैं और जगत मिथ्या है' इस सिद्धान्त में दृढ़विश्वास उत्पन्न होने पर भी) आत्मस्वरूप का अनुभव प्राप्त नहीं होता, इसका कारण 'प्रमेयासम्भावना' है। इस संदेह को दूर करने के लिए आत्मस्वरूप का मनन अत्यन्त आवश्यक है। अनेक प्रकार की युक्तियों से प्रमेय आत्मस्वरूप के चिन्तन का नाम है, 'आत्ममनन'। इसके फलस्वरूप प्रमेयासम्भावनारूप विघ्न निवृत्त हो जाता है और स्वरूप साक्षात्कार उदित होता है। भ्रम या अभ्यास के मूल 'मैं' तथा 'जगत्' का निरसन होने पर (अभिमान तथा उसका विषय मिथ्या सिद्ध होने पर) द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप त्रिपुटी बाधित हो जाती है। मनन के योग से प्रपञ्च का अभाव साधित होने पर मन निश्चल होकर स्थित

होता है। यह निश्चल स्थिति या सहज आत्माकार में परिणमन 'मनन' कहा जाता है "मननं त्वात्मलिंगस्य मन्तव्याभाव चिन्तनम् ॥" 'दृश्य पदार्थ वास्तविक नहीं है' यह जान लेने पर असंग, अद्वय, कूटस्थ, चैतन्य ही स्वयं प्रकाशित हो जाता है। मन का विषय-चिंतन (संकल्प-विकल्प या विषयाकार में परिणति) बन्द होने पर ही स्थिर अन्तः-करण में अखंड साक्षी सहज ही प्रतिभात होता है। दृश्यरहित द्रष्टा का ऐसा स्वतः सिद्ध अनुभव 'आत्ममनन' कहा जाता है।

इस प्रकार सर्वानुभवसिद्ध प्रत्यक्स्वरूप का हृदय में भासमान होना वस्तुतंत्र है, पुरुषतंत्र या कर्मतंत्र नहीं। मननरूप ज्ञानभूमिका क्रिया या उपासना नहीं है। वेदान्त वाक्यानुकूल युक्ति की सहायता से दृश्यप्रपञ्च का निषध सम्भव होता है। फलस्वरूप आत्मचिन्तन (आत्मा का सहज अनुभव या मनन) अवश्यम्भावी हो जाता है। त्रिपुटी के ज्ञात होने पर भी उसमें सत्यताबुद्धि नहीं रहती। 'सारा दृश्य प्रपञ्च मिथ्या है, अद्वितीय दृक्स्वरूप मैं ही एकमात्र सत्य हूँ' ऐसे निश्चय से प्रत्यगात्मा स्वयं अपने शुद्ध स्वरूप में अनुभूत होता है। इस प्रकार क्षण-क्षण में बुद्धिपूर्वक आत्मा का अनुभव होने पर सजातीय संस्कार उत्पन्न होता है और मनोनाश तथा वासनाक्षय के अभ्यास से वह आत्मविषयक संस्कार अभिवृद्ध होता है। इसे प्रतिबन्धरहित साक्षात्कार का उदय होता है। और जीव निज नित्यानन्द स्वरूप में अवस्थित होता है। जीवन्मुक्त का जो सहज सिद्ध लक्षण है, मननशील मुमुक्षु के लिए वही यत्नपूर्वक साध्य है। यही तृतीय और षष्ठ प्रकरणों का परस्पर सम्बन्ध है।

शुद्धो निरञ्जनोऽनन्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः।
चेष्टमानमिमं देहं पश्याम्यन्यशरीरवत् ॥१॥

'मैं इस देह को अन्य देह के समान देखता हूँ' अर्थात् मैं देह नहीं हूँ। मैं गुण तथा माया से अतीत हूँ, मै शाश्वत तथा ज्ञानरूप हुँ।

इस प्रकार माया से विलक्षणस्वभाव होने पर भी आभासरूप देह के साथ सम्बन्ध होने के कारण दूसरे की दृष्टि में व्यवहारकर्ता रूप में प्रतीत होता हूँ। वास्तवमें मैं कर्ता और भोक्ता नहीं हूँ। प्रमेय आत्म-स्वरूप के सम्बन्ध में इस प्रकार मनन करना चाहिए कि मैं शुद्ध, बुद्ध और स्वयंप्रकाश हुँ, मैं आकाश के समान उपाधिरहित, अनन्त एवं सर्वव्यापी हूँ। यह जगत् जैसे देश, काल तथा वस्तु से परिच्छिन्न है, मैं वैसे परिच्छिन्न नहीं हूँ। मैं स्वयं बोधस्वरूप हूँ, मुझे जानने के लिए बुद्धिवृत्ति की अपेक्षा नहीं है। अध्यारोपदृष्टि से प्रकृति का नियन्ता होने पर भी मैं वास्तव में (अपवाददृष्टि से) प्रकृति से अत्यन्त भिन्न हूँ।

अन्तःकरण में यह दृढ़ धारणा करने का अभ्यास करना चाहिए कि 'मैं अन्य लोगों के शरीरों को जैसे अनेक कार्य करते हुए देखता हूँ, वैसे ही पर्वसंस्कार के कारण क्रियाशील यह मेरा शरीर भी मुझसे भिन्न है। मैं केवल साक्षी हूँ, किसी कर्म का कर्ता या उसके फल का भोक्ता नहीं हूँ। इस प्रकार की भावना को उपर्युक्त युक्तिद्वारा हृदय में स्थिर करने का नाम ही 'मनन' है। निरन्तर आत्ममनन करते-करते आत्मबोध दृढ़ हो जाता है और आत्माका यथार्थ अनुभव होता है। अज्ञानावरण भंग करने के लिए साक्षात्कारवृत्ति की अपेक्षा होने पर भी आत्मा वास्तव में स्वप्रकाश होने से अन्तःकरणवृत्तिनिरपेक्ष (साक्षात् अत्यक्ष) निजस्वरूप है। आत्मा वस्तुतः प्रकृति से विलक्षण एवं मायामलरहित (निरञ्जन) है। इसीलिए गीता में उसे क्षर तथा अक्षर पुरुष से भिन्न एवं उत्तमपुरुष कहा गया है—"क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते। उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः॥"

आत्मबोध तथा आत्मा के सम्यक् अनुभव के लिए अनेक प्रकार की भावनाएँ की जा सकती हैं। जैसे—

एते हि चिद्विलासान्ता मनोबुद्धीन्द्रियादयः।
असन्तः सर्व एवाहो अवधानं विनां स्थिताः ॥ २ ॥

मन बुद्धि और इन्द्रियादि के परिणामस्वरुप में अखिल भाव वस्तुतः अविद्यमान होने पर भी आत्मतत्व की अवधानता से सत्य से प्रतीक हो रहे है। ब्रह्मानुभव होने पर इन सकल विकारोका नाश हो जाता है। प्रत्यक् स्वरुप का साक्षात्कार होनेपर उनका प्रत्यक्ष अभाव हो जाता है। 'आत्मस्वरूप के विस्मरण से ही देह, इन्द्रिय प्राण, मन और बुद्धि के विकार अनुभूत हो रहे हैं। 'समस्त दृश्यविकार कूटस्थ आत्मस्वरूप में सर्वथा नहीं है या नहीं रह सकते' ऐसा विचार उत्पन होने पर अविद्या, जगत, देह और सारा प्रपञ्च अदृश्य हो जाता है। नेति-नेति रूप श्रौतयुक्ति की सहायता से सब दृश्य निरस्त हो जाते हैं। फलस्वरूप निषेध के अवधिरूप में आत्मस्वरूप स्वय प्रकाशित होता है। अतः अवहित होकर अनात्मनिरसन का अभ्यास करने से आत्मस्वरूप स्वयमेव हृदय में प्रतिभात हो जाता है।

नेति-नेति रूप निषेधवाक्य मध्यम जिज्ञासु पुरुष के लिए उपदिष्ट हुआ है। 'ब्रह्म वेदम्' रूप विधिवाक्य विशेषतया उत्तम तत्वजिज्ञासु के लिए कहा गया हैं। देहादि समस्त अनात्मवर्ग में ब्रह्मबुद्धि करने से सब अनात्मपदार्थों में मुमुक्षु को अत्यन्ताभाव बुद्धि दृढ़ हो जाती है। महावाक्य-श्रवण के उपरान्त श्रुत्यनुकूल युक्तियों से भ्रान्ति सिद्धि प्रपंचतया नित्य सिद्ध ब्रह्म में अभेदनिश्चित होने पर रज्जु का ज्ञान होने पर जैसे भ्रान्ति सिद्ध सर्प की कारणीभूत रज्जु का अज्ञान सर्वथा बाधित हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मात्मस्वरूप का बोध होने से दृश्यप्रपञ्च का कारण मूलाज्ञान सर्वथा बाधित हो जाता है। इस प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप अभेद प्रतिप्रादक एवं 'आत्मैवेदं सर्वम' रूप आत्म प्रतिप्रादक वेदान्त वाक्यों के अवलम्बन से मनन करने पर मुमुक्षु अद्वैतात्मस्वरूप में स्वयं अवशिष्ट और सुखपूर्वक स्थित हो जाता हैं।

आपद्यचलचित्तोऽस्मि जगन्मित्रं च सम्पदि।
भावभावविहीनोऽस्मि तेन जीवाम्यनामयम् ॥ ३ ॥

१ यो०

दुःख प्राप्त होने पर मेरा मन अस्थिर नहीं होता, सम्पत्ति में मैं सबका उपकार करता हूँ। मेरा उदय या हानि कुछ भी नहीं होते। सुतरां हर्ष-विषाद रहित होकर मैं सुखपूर्वक स्थित हूँ। मुमुक्षु ऐसी भावना करता है कि 'यद्यपि नानाप्रकार के सङ्कट प्राप्त हो जायँ, तथापि मैं वस्तुतः विचलित नहीं हो सकता, क्योंकि मैं सर्वदा निज स्वरूप में अवस्थित और अचलचित्त हूँ। सङ्कट एवं आपत्ति में वही दुःखित हो सकता है, जो अपने को देहरूप मानता हैं। किन्तु मुमुक्षु स्वयं देह तथा इन्द्रिय से भिन्न है। अतः उसे किसी भी आपत्ति में दुःख नहीं हो सकता। इसी प्रकार भाग्यवशात् यदि उसे कोई सम्पत्ति प्राप्त हो जाय, तो भी वह सबके साथ मित्रता का व्यवहार करेगा–ऐश्वर्य प्राप्ति से गर्व न करेगा। जैसे प्रचण्ड पवन से पर्वत की स्थिरता नष्ट नहीं होती और वर्षाऋतु के जल से समुद्र नहीं बढ़ता, वैसे ही अद्वयात्म-स्वभाव में स्थित सत्पुरुष का चित्त सम्पत्ति-विपत्ति में समान रहता हैं, उसमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हो सकता। सारांश. मुमुक्षु 'मैं देहरूप नहीं हूँ और मुझमें देह का अभाव भी नहीं हैं; अर्थात् मैं भाव तथा अभाव से रहित (विकाररहित) केवल साक्षी हूँ, इस प्रकार आत्ममनन में निरन्तर निमग्न रहकर सहज ही आत्मानुभव प्राप्त कर सकता है।

निरीहोऽस्मि निराशोऽस्मि खवत् स्वस्थोऽस्मि निःस्पृहः।

शान्तोऽस्म्यहमरूपोऽस्मि चिरायुरचलः स्थितः ॥४॥

यहाँ 'अचलस्थितिः' यह पाठान्तर भी दिखलाई पड़ता हैं। अर्थात् मुमुक्षु अपने को निश्चित रूप से पुनः इस प्रकार जानता है कि मुझमें किसी प्रकार की सांसारिक चेष्टाएँ नहीं हो सकती, तृष्णाशून्य होने से आकाश के समान निजस्वरूप में स्थित एवं इच्छारहित हूँ। मुझे विषय स्पृहा नहीं है, मैं स्थिरमना हूँ। मैं रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द में अनासक्त अतएव अविनाशी हूँ। मैं सर्वप्रकारके चांचल्य से रहित होकर

अवस्थित हूँ। अभिप्राय यह कि यद्यपि मैं व्यावहारिक दृष्टि से देह एवं इन्द्रियों का संचालक हूँ—देह और इन्द्रियों की सहायता से सभी कार्यों का सम्पादन करता हूँ, तथापि पारमार्थिक दृष्टि से मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता, सब कार्यों से अलिप्त रहता हूँ। जैसे दीपक के प्रकाश में भले-बुरे सभी प्रकार के कार्य निष्पन्न होने पर भी दीपक उनसे किसी प्रकार विकार को प्राप्त नहीं होता, पहले की तरह पृथक् स्थिर रहता है, ठीक वैसे ही मैं मी अलिप्त रहकर सब व्यवहारों का निष्पादन करता रहता हूँ। मैं शान्तस्वरूप और गुणरहित हूँ। मेरा रूप-रङ्ग कुछ भी नहीं है। मैं आकाश के समान स्थिर एवं सर्वव्यापी हूँ। इस प्रकार निरन्तर आत्मचिन्तन करके अपने आपको निश्चित रूप से यदि उसी प्रकार जान लिया जाय, तो आत्मबोध अवश्य ही प्राप्त हो जाय।

चिदेव पञ्चभूतानि चिदेव भुवनत्रयम्।
विज्ञातमधुना सम्यगहमेव चिदेव हि ॥ ५ ॥

मैंने यह अच्छी तरह जान लिया है कि पृथिवी आदि समस्त भूत ब्रह्म ही है। पंचभूतों का कार्यरूपी यह त्रिभुवन भी ब्रह्मचैतन्यमात्र है। मैं भी ब्रह्म हूँ। श्रुति ने समस्त पदार्थों का निःसन्दिग्ध ब्रह्मरूप में निर्देश किया है। ब्रह्मचैतन्य अन्यनिरपेक्ष रूप में प्रसिद्ध है। समस्त भोग्य पदार्थों की सिद्धि चैतन्य के अधीन है। अहं आदि भोक्ता चिन्मात्र है, अन्य कछ भी नहीं। सभी भोग्य वास्तव में चित् ही हैं, क्योंकि उनका सत्ता-स्फुरण ब्रह्म के बिना सम्भव नहीं है "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा," "ब्रह्मैवेदं विश्वम्" आदि श्रुतिवाक्य इस विषय में प्रमाण है। यह समस्त वेदान्तों का सारभूत सिद्धान्त है। उपशम-प्रकरण में वर्णित बलि-प्रहलाद तथा उद्दालकोपाख्यान में यह विस्तृत रूप से प्रदर्शित हुआ है।

सर्वातीतः सर्वगम्यः खमिवायमहं स्थितः।
यत्तदस्मि तदेवास्मि वक्तुं शक्नोमि नेतरत् ॥६॥

प्रत्यक्षरूप में अनुभूत मैं सकल दृश्यमान जगत् से अतीत हूँ, मैं संसाररूप नही हूँ, प्रपंच के अन्तर्गत नहीं हूँ। इसीलिए मैं सर्वव्यापक—आकाश की तरह स्थित हूँ। 'तत्' शब्द से निर्दिष्ट ब्रह्म ही मेरा स्वरूप है। यह अनुभवगोचर है। मेरे यथार्थ स्वरूप का पूर्णरूप से निर्देश शब्द द्वारा सम्भव नहीं है। समस्त वेदान्तवाक्य मनन के सहायक हैं, ज्ञान या अनुभव साक्षात्कार का उदय होने पर होता है। मूलावरण-निवृत्तिपूर्वक स्वयप्रकाश आत्मा (मेरे निजस्वरूप) का बाधरहित ज्ञान सहज में होता है। सम्यक् बोध या अद्वैतरूप में स्थिति का नाम 'समाधि' है (यह तीसरे प्रकरण के पहले श्लोक में बतलाया जा चुका है) इसीको 'अनुभव' कहते हैं।

मय्यनन्तचिदम्भोधावश्चर्यं जीववीचयः।
समुल्लसन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः॥ ७॥

यह आश्चर्य का विषय है कि मुझ अपार ज्ञान-समुद्र में जीवरूप तरङ्ग उत्पन्न होती, व्यापार (कार्य) करती और पुनः मुझमें ही लीन हो जाती है। ऊर्मिमालाओं की तरह जीववृन्द का भी यही स्वभाव है। आत्ममनन की सहायता से क्रमशः ऐसा अनुभव प्राप्त होता है कि समस्त ब्रह्माण्ड मुझमें ही समाविष्ट है और सकलप्राणियों का जीवभाव मुझमें ही अवस्थित है। मैं चिद्रूप अगाध समुद्र हूँ। नाना प्रकार के जीव समुद्र-तरङ्ग के समान मुझमें उत्पन्न होते हैं, मुझमें स्थित रहते हैं और मुझमें ही नष्ट हो जाते हैं। चाहे कितनी लहरें मुझमें उत्पन्न क्यों न हों, उनसे मेरा कोई क्षय या वृद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ।

मय्यनन्तचिदम्भोधौ विश्वविच्यादिकल्पना।
उदेतु वाऽस्तमायातु न मे वृद्धिर्न च क्षयः॥ ८॥

अनन्त ज्ञानसमुद्र मुझमें संसाररूप लहरियों की कल्पना चाहे उठे या नष्ट हो जाय, इससे (जगत् के उदय या क्षय से) मेरी वृद्धि या क्षति नहीं है, क्योंकि मैं परिपूर्ण हूँ।

मदज्ञानोदितं विश्वं मय्येव लयमागतम् ।
अपरोक्षचिदानन्दसाम्राज्यमधुनाऽस्म्यहम् ॥ ९ ॥

मेरा यथार्थ स्वरूप न जानने के कारण उत्पन्न यह जगत् मेरे यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान हो जाने से नष्ट हो गया है। अब मैंने प्रत्यक्ष अनुभूत निजानन्दरूप असीम ऐश्वर्य को प्राप्त कर लिया है। इस प्रकरण के प्रारम्भ में ही बतलाया गया है कि युक्ति की सहायता से मनन करने पर आत्मसम्बन्धी संशय नहीं रह जाता और ईश्वरानुग्रह से मुमुक्षु के हृदय में साक्षात्कार उदित होता है। आत्मा स्वयम्प्रकाश है, उसमें वस्तुतः कोई आवरण नहीं है, क्योंकि अनुभवरूप आत्मा में स्वरूप का अनवधान (अनात्मभावना) नहीं रह सकता—'नाज्ञानं न च बुद्धिश्च न जगन्न च साक्षिता। अतः भोग में अप्रीति या विषय-विरक्ति उत्पन्न होने पर मननशील मुमुक्षु के हृदय में निःसन्दिग्धरूप में पूर्णात्मा का प्रकाश सहज ही उदित हो जाता है। दृश्यपदार्थ-सम्बन्धी इच्छा का अनुदय (वासनानिवृत्ति) होकर चित्त जब चिन्मात्रमें स्थित होता है, तभी अज्ञान नष्ट हो जाता है चित्त के सङ्कल्परहित या अचल होने पर अविद्या निवृत्त हो जाती है। आत्मा का बार-बार चिन्तन होते रहते पर मनका स्फुरण नष्ट हो जाता है।

सर्वभूतान्तरस्थाय नित्यमुक्तचिदात्मने ।
प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः ॥ १० ॥

इस प्रकार अपने यथार्थ स्वरूप को मैं नमस्कार करता हूँ। मैं समस्त प्राणियों में अन्तर्यामीरूप से अवस्थित हूँ। मैं नित्यमुक्त एवं ज्ञानस्वरूप हूँ। मैं प्रतिदेह में प्रकाशरूप में स्थित हुँ। मेरे सिवा और कुछ भी नहीं है, अतः अपने आपको ही मैं नमस्कार करता हूँ। आत्मस्वरूप का चिन्तन करते-करते मुमुक्षु को अनुभव होता है कि मैं ही सर्वत्र विराजमान हूँ। समस्त भूतों में मैं निवास करता हूँ, अतः

मैं ही नमस्कार का पात्र हूँ। मैं निज नित्यमुक्त और केवल चैतन्य-रूप को नमस्कार करता हूँ। मैं अपने स्वप्रकाश एवं आन्तर प्रकाशक रूप को नमस्कार करता हूँ। समस्त विश्व जबकि चिद्रूप ही प्रतीत हो रहा है—जबकि अनात्मा कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता, तब मेरे सिवा और क्या रह सकता है? अतएव केवल आनन्दस्वरूप मुझे ही बार-बार नमस्कार है। सारांश, नित्य निरन्तर आत्ममनन होते-होते मन का लय और वासनाक्षय स्वयमेव सिद्ध हो जाते हैं। फल-स्वरूप पूर्ण आत्मा का अनुभव सहज में प्राप्त होता है। योगवाशिष्ठ उत्पत्तिप्रकरण के ११० से ११४ तक के सर्ग आत्ममनन की दृष्टि से विशेष उपयोगी हैं—"प्रत्यगर्थमनालिङ्ग्य न पराग्वर्ति किञ्चन।
विज्ञानं जायते यस्मादात्मोपास्ति सदा ततः॥

आत्माननद्वारा प्रमेयासम्भावना के नाश होने पर मुमुक्षु अपनेको ब्रह्मरूप में अनुभूत करता है—यह पिछले प्रकरण में बतलाया जा चुका है। फिर भी अनेक जन्मों के संस्कारों के कारण देहादि प्रपञ्च में सत्यताबुद्धि आ जाती है और फलस्वरूप मुमुक्षु स्वस्वरूप से च्युत हो जाता है। आत्मानुभव की दृढ़ता में यह विपरीतभावना विघ्न है। निदिध्यासन की सहायता से यह विघ्न दूर हो जाता है। सुतराम् इस सातवें प्रकरण में निदिध्यासन का वर्णन किया जा रहा है।

निदिध्यासन से प्रपञ्च का निरसन होता है, अनात्मोपाधियों का पूर्णरूप से क्षय होता है और केवल ब्रह्म अवशिष्ट रहता है। ध्यातव्य विषय का अभाव होने पर प्रकाशस्वरूप आत्मा का जो स्वतः अनुभव होता है, उसीका नाम 'निदिध्यासन' है। किसी भी विषय की इच्छा मन में बिना उदित हुए उसका चिन्तन नहीं हो सकता। विषयचिन्तन न होने पर सङ्कल्प (वृत्तिरूप स्फुरण) का अभाव सिद्ध होता है। त्रिपुटी का अभाव होने पर शुद्ध साक्षी स्वयं सम्यक् प्रकाशित हो जाता है।

वित्त, क्षेत्र, पुत्र, कलत्ररूप विषय अनन्तदोषों से युक्त हैं, भ्रम से ये सुखसाधनरूप में प्रतीत होते हैं। विवेक एवं विचार की सहायता से देखने पर बन्धनरूप में वे समस्त दुःखों के हेतु सिद्ध होते हैं। इनका अर्जन और रक्षण बहुत आयाससाध्य है, विनश्वर होने के कारण नाश या वियोगकालमें अवश्यम्भावी शोकके कारण होते है। वासना या चिन्तन ही इनके स्फुरण का एकमात्र कारण है। निर्वासनिक चित्त में चिन्तन या चेत्य (विषय) सम्भावित नहीं है। पुनः पुनः चिन्तन से ही वासना उत्पन्न होती है। विषयचिन्तन न करने से विषयवासना क्षीण होती है और हृदय में शुद्धआत्मस्वरूप सम्यक् प्रस्फुरित होता है।

विषय केवल जड़ और दुःखरूप ही नहीं, मायिक एवं मिथ्या भी

हैं। पञ्चतन्मात्रा और उनका कार्य सब कुछ मिथ्या ही है। इस प्रकार विवेक और विचार के अवलम्बन से अनुसन्धान करने पर विषयों में शोभनबुद्धि शिथिल होकर धीरे धीरे अनात्मवासना का अवसान हो जाता है। साथ ही बाह्य और आन्तर सकल आयासों का अभाव होकर अनायास शुद्ध (निर्दृश्य) आत्मस्वरूप सम्यक् प्रकाशित होता है। विषयसम्बन्धी इच्छा अविचारप्रसूत है। विचार उत्पन्न होने पर दृश्य त्रिपुटी आधाररहित और सत्ता स्फूर्तिशून्य हो जाती है। द्रष्टा ही भ्रम से दृश्य में समीचीन बुद्धि करके दृश्य द्वारा बद्ध हो जाता है। किन्तु यदि वह किसी प्रकार का सङ्कल्प न कर स्थित रहता है—कल्पना करने या न करने में द्रष्टा सर्वथा स्वतन्त्र है, तो उसी क्षण शुद्ध दृक्स्वरूप सम्बन्धी अपने निरतिशय आनन्द-सुख का अनुभव सहज ही सिद्ध हो जाता है। निदिध्यासन के अभ्यास से विजातीय संस्कारों का पराभव सम्भव है। प्रयत्नपूर्वक जितना-जितना विषयचिन्तन का अभाव साधित होता है, उतना-ही-उतना आत्मानुभव के फलस्वरूप परमात्मसंस्कार का उपचय होता जाता है। आत्मसम्बन्धी संस्कार को अत्यन्त वृद्धि होनेपर अनात्मवासना का क्षय हो जाता और अन्तिम साक्षात्कार का उदय होता है। दृढ़ मुक्तिसुख इसीका अवश्यंभावी फल है।

विषयवासना ही बन्धन है और उसी का प्रकृष्ट क्षय मुक्ति है। निःसङ्कल्प होने पर त्रिपुटीरूप उपाधि का क्षय (चिदाभास चेतन के सहित अपना असम्बन्ध) होता है और अन्त में आत्मा की शुद्ध स्थिति का अनुभव सम्भव होता है। निदिध्यासन के फलस्वरूप निःसङ्गता अटल होती है। आचार्य ने कहा है 'सत्सङ्गत्वे निःसङ्गत्व निःसङ्गत्वे निर्मोहत्वम्। निर्मोहत्वे निश्चलितत्वं निश्चलित्वे जीवन्मुक्तिः॥" मोह ही अविचार है, विचार उत्पन्न होने पर दक्स्वरूप का स्वतः अनुभव होता है। निदिध्यासन और समाधि के (असङ्गतारूप तृतीय योगभूमिका के) अभ्यास से अपने शुद्ध स्वरूप का जितना-जितना अनुभव होता जायगा, उतना ही उतना निश्चलीभाव (निजस्वरूप

में अधिकतर सहज अखण्ड स्थिति या निर्विकल्प समाधिदशा) आ जायगा। वासना (विपरीतभावना या अविद्यावरण) का निःशेष नाश होने पर यह निश्चलता ही सहज अप्रतिबद्ध ज्ञान या जीवन्मुक्ति-सुख में पर्यवसित होती है।

युक्ति की सहायता से आत्मस्वरूप में असम्भावनाबुद्धि नष्ट करके आत्माकारवृत्ति की उत्पत्ति मनन का फल है। उपचित्त संस्कार के बल से अनात्मनिरसनपूर्वक अनवच्छिन्न आत्माकारवृत्ति को प्रवाहित करना निदिध्यासन का फल हैं। मनन की सहायता से आत्मा के यथार्थ स्वरूप का निश्चय सम्भव होता है, देहादि जगत्प्रपञ्च में सत्यताबुद्धि आत्मा के ध्यान से निवृत्त हो जाती है। तर्क की सहायता से दृश्यप्रपञ्च के निरस्त हो जाने पर भी अपरोक्षबोध के बल से उसका सम्यक् विलयसाधन (बाध आवश्यक है, अन्यथा जीवन्मुक्ति सम्भव नहीं है। तनुमानसाभूमिका का परिपाक होने पर सत्त्वापत्ति-भूमिका (आत्मसाक्षात्कार) प्राप्त बिना हुए मुमुक्ष जन्म-मरण से मुक्त नहीं होता। इसीलिए षष्ठ प्रकरण के बाद यह प्रकरण आरम्भ किया जा रहा है। आत्मवासना की अभिवृद्धि और विषय वासना का अपक्षय (अहं-ममभाव का विगलन) इसका परम प्रयोजन है। गीता के १८ वें अध्याय के ५१-५५ श्लोकों में यह आत्मैकनिष्ठा उपदिष्ट हुई है। उत्तम मुमुक्षुजनों को योगवाशिष्ठ के उत्पत्ति-प्रकरण का निदिध्यासनोपयोगी १२१ वाँ सर्ग देखना चाहिए। असङ्गबुद्धि से किये जाने वाले कर्मों से मुमुक्षुओं को कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। कर्म स्वयं देहेन्द्रियादि द्वारा सम्पन्न होते हैं। सुतरां निःसङ्गताबोध (विचार तथा समाधि का अभ्यास) बढ़ता है। फलस्वरूप तृतीय ज्ञानभूमिका परिपक्व होकर साक्षात्कार में पर्यवसित होती है।

विपरीतभावना की निवृत्ति के लिए वशिष्ठजी असङ्ग निजस्वरूप का उपदेश करते हैं—

बहिः कृत्रिमसंरम्भो हृदि संरम्भवर्जितः ।
कर्ता बहिरकर्ताऽन्तर्लोके विहर राघव ॥ १ ॥

हे राघव । इस प्रकार तुम सांसारिक व्यापार या कार्य निष्पन्न करो । किस प्रकार ? बहिर्दृष्टिसे तुम उद्युक्त हो, किन्तु मनमें उत्साह या प्रवृत्ति में आसक्त मत हो । अर्थात उसमें सत्यबुद्धि मत करो, प्रवृत्ति के कर्ता मत बनो या उसके फलाफल से लिप्त मत हो । अतएव व्यवहार करके भी (लोकदृष्टि से कर्ता होते हुए भी) हृदय में तुम अकर्ता ही बने रहो, क्योंकि वास्तव में तुम्हें देहाभिमान नहीं है । इसलिए तुम निश्चितरूप से अकर्ता एवं अभोक्ता ही हो ।

प्रश्न - शरीर तथा इन्द्रिय के व्यापार में आत्मध्यान (निदिध्यासन) किस प्रकार अव्याहत रहेगा ? उत्तर–देह तथा इन्द्रियों का स्पन्दन स्वाभाविक है, मनोयोग या प्रयत्न के बिना वह अपने आप संस्कारवशात् सम्पन्न होता है । अनायाससाध्य ये सब व्यापार बाह्य हैं । विवेक और विचार (दृश्यपरित्याग या त्रिपुटी के साथ अपना असम्बन्ध) प्रयत्नकृत और आन्तर है । मनकी शुद्धि या सूक्ष्मता पुरुषार्थ का फल हैं । अनात्मनिरसन के सिद्ध होने पर आत्मा स्वयं प्रकाशित होता है । आत्मा का अनुभव वस्तुतन्त्र है ।

प्रश्न— कर्मसन्यास के बिना क्या निदिध्यासन सम्भव है ? उत्तर - संन्यासाश्रम ज्ञानाभ्यास के अनुकूल है । तथापि उत्तमसंस्कार-युक्त मुमुक्षु के लिए बाह्य संन्यास के बिना स्वरूपचिन्तन सम्भव है । बुद्धि के विशुद्ध होने पर आत्मा का अनुभव स्वयं होता है । इसके लिए बाह्य आश्रम अत्यावश्यक नहीं है । चित्त में दृश्य के साथ साक्षी आत्मा का असम्बन्ध बोध उदित होन पर निदिध्यासन और समाधि सम्भव होती है । दृश्यपरित्याग ही 'संन्यास' शब्द का मुख्य अथ हैं । प्रश्न —उत्तम मुमुक्षु का लक्षण क्या है ? उत्तर— जिम पुरुष की अन्य सभी इच्छाएँ निवृत्त हो चुकी हों,जिसे एकमात्र परमानन्द आत्म-

स्वरूप की इच्छा अवशिष्ट रह गयी हो और जो सर्वदा उसीके परायण में रहे, वही उत्तम मुमुक्षु है। वह अपने को असङ्गरूप जानता और स्वभावतः विषय से वितृष्ण हो जाता है।

प्रश्न—क्या वह समस्त आरम्भों का परित्याग करता है? उत्तर—भीतर से वह अकर्ता है, वह अपने आपको शुद्ध एवं असङ्ग आत्मा निश्चित करता है। फलस्वरूप वह त्रिपुटी दृश्य में आसक्त नहीं होता और सभी अवस्थाओं में भीतर दृश्य के साथ सम्पर्करहित रहता है। वह कभी भी विकार को प्राप्त नहीं होता। सकल विकारोंका प्रत्यक्ष प्रकाशक वह स्वयं विकारी कैसे हो सकता है? उसका शरीर और इन्द्रिय बाहर व्यापृत रहने पर भी भीतर वह उद्यमरहित होता है। सब प्रवृत्तियाँ या विषयासक्ति अनुमान से जानी जाती है। मुमुक्षु पुरुष में वे नहीं रहतीं। मोटे तौर पर मुमुक्षु का यही बाह्य लक्षण है अन्यथा भीतरी असङ्गत्वनिश्चय अन्य किस प्रकार से जाना जा सकता है?

प्रश्न—भगवान् शंकर ने संन्यास पर क्यों जोर दिया है? उत्तर—आसक्ति और ममता का त्याग हुए बिना आत्मविचार फलप्रसू (फलोत्पादक) नहीं होता। मन्द तथा मध्यम अधिकारी के लिए संन्यासाश्रम अनुकूल होता है, इसलिए श्रवण के अंगरूप से कर्मसंन्यास निरूपित किया गया है। तथापि संन्यास ज्ञान का अपरिहार्य साधन नहीं है। क्षत्रिय (राम, जनक आदि) का संन्यास में अधिकार नहीं है। ब्राह्मणों में भी प्रतिबन्धवशात् उसके ग्रहण में अरुचि उत्पन्न हो सकती है। उत्तम मुमुक्षु के विशुद्ध चित्त में आत्मविचार उदित होता है और वासनाक्षय (अध्यासनिवृत्ति) पूर्वक अप्रतिबद्ध साक्षात्कार प्राप्त होता है। यही शास्त्र का निष्कर्ष है, शंकराचार्य ने इसी पर जोर दिया है।

प्रश्न—संन्यास का अवलम्बन किये बिना आत्मज्ञान किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है? उत्तर वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य, जनक आदि अनेक गृहस्थ पुरुषों को ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ—यह शास्त्रों से ही ज्ञात होता है। ज्ञान का आविर्भाव विचार एवं समाधि की सहायता से होता है। कर्म

संन्यास आत्मविचार के अनुकूल (उपयुक्त) होने के कारण श्रवण के अङ्गरूप में शास्त्र में विहित है, फिर भी संन्यास विचारोत्पत्ति का अनन्य साधन नहीं है। जन्मान्तरीय उत्तम संस्कार एवं ईश्वर का अनुग्रह ही उसका एकमात्र हेतु है। 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते', 'ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना' आदि वचन इस विषय में प्रमाण है। सुतरां आत्मविचार के प्राप्त एवं परिपक्व होने पर सम्यक्ज्ञान अवश्य ही उदित होता है।

केवल शरीर और इन्द्रियों के कर्म ज्ञानप्राप्ति के प्रतिकूल नहीं हैं, यह विचारयोग की दृढ़ता के लिए पुनः बतलाया जा रहा है—

अन्तः सन्त्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः।

बहिः सर्वसमाचारो लोके विहर राहव ॥ २ ॥

हे राघव! संसार में तुम इस प्रकार आचरण करो—मन में किसी भी प्रकार की तृष्णा मत रखो। तुम्हारी विषयाभिलाषा निवृत्त हो चुकी है, इसलिए तुम्हें कोई वासना भी नहीं है। भीतर आशारहित रहकर बाहर तुम देहेन्द्रियादि के स्वाभाविक आचरण में तत्पर रहो। 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि', 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्', 'न हि कश्चित् क्षणमपि', 'निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रह', 'यस्य नाहङ्कृतो भावो' आदि गीतावाक्य, तथा 'ज्ञानोदयात् पुरारब्ध कर्म ज्ञानान्न नश्यति। अदत्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत्॥' एवं मुक्तोऽपितावद् बिभृयात् स्वदेहमारब्धमश्नन्नभिमानशून्यः। यथाऽनुभूतं प्रतियातनिद्रः किन्त्वन्यदेहाय गुणान्न वृङ्क्ते॥" आदि अध्यात्मोपनिषद् और भागवत के श्लोक इस विषय में प्रमाण है। 'यह पदार्थ मुझे प्राप्त नहीं हुआ, यह मुझे प्राप्त हो' इस प्रकार के स्फुरण का नाम 'तृष्णा' हैं। 'दृश्य के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, दृश्य अवस्तुभूत है, वास्तव में वह उदित नहीं होता, कल्पना के बल पर मिथ्या ही चित्त में स्फुरित होता है। मैं शुद्ध प्रकाशरूप हूँ, मुझमें दृश्य किसी भी काल में, किसी भी कारण नहीं रह सकता।

'मैं एकरस चेतन और आनन्दस्वरूप हूँ' इस प्रकार जिसे दृढ़ निश्चय (सफल मनन) हो गया है, उसका चित्त सहज ही दृश्यपरित्याग-पूर्वक शुद्ध आत्माकार में परिणत हो जाता है (निदिध्यासन)। विचारद्वारा अहमादि दृश्य के साथ जिसका सम्पर्क छिन्न हो गया है, अर्थात् जो विषयों की अभिलाषा नहीं करता, उसकी वासना शिथिल होते-होते सर्वथा क्षय को प्राप्त हो जाती है।

विषयरूप दृश्य शुद्ध आत्मा में सम्भावित नहीं हैं' ऐसे निश्चय के बल पर विषय निरस्त होते हैं (मनन) और निज साक्षिस्वरूप अनुभव में आता है (निदिध्यासन)। साक्षी आत्मा का जितना जितना अनुभव होता जाता है, विषयवासना उतनी-उतनी शिथिल होती जाती है। आत्मसाक्षात्कार का उदय होने पर सब वासनाएँ (स्वाध्यास) विनिवृत्त होती है। मन से दृश्यमार्जन का यही शास्त्रोक्त क्रम है। यही सन्यास है, यही विचार और यही ज्ञान (सविकल्प और निर्विकल्प समाधि) है। इसके अभ्यास से वासना का निःशेष क्षय हो जाता है और चौथी ज्ञानभूमिका (साक्षात्कार) आविर्भूत होती है। शांकरवेदान्त की परिसमाप्ति वाशिष्ठ-वेदान्त में हुई है। जो शांकर-वेदांत का मर्म जानना चाहते है, उन्हें योगवाशिष्ठ का परिशीलन करना चाहिए। संस्कार या अधिकारभेद के अनुसार भिन्न-भिन्न मार्ग, प्रक्रिया या भूमिकाएँ शास्त्र में उपदिष्ट हैं। सकाम-निष्काम कर्म, सकाम-निष्काम, (साकार-निराकार), भक्ति, उपासना, योग, ज्ञान, संन्यास, श्रवण, मनन विचार), निदिध्यासन, तनुमानसा, सत्त्वापत्तिभूमिका, दृष्टि-सृष्टिवाद, एकजीववाद, वाच्यैक्यप्रक्रिया आदि स्वात्मसुखप्राप्ति के भिन्न-भिन्न साधन हैं। जीवन्मुक्त के लक्षण और विभिक्ष स्थितियाँ गीता, वाशिष्ठ आदि मोक्षोपायशास्त्रों में बहुशः बतलायी गयी हैं।

पूर्णां दृष्टिमवष्टभ्य ध्येयत्यागविलासिनीम्।
जीवन्मुक्ततया स्वस्थो लोके विहर राघव॥ ३॥

हे राघव ! जो पूर्णदृष्टि ध्येय संसारके त्याग में शोभित होती है, उसी दृष्टि का अवलम्बन कर तुम जीवन्मुक्त एवं स्वरूपस्थित होकर साधारण लोगों की तरह शरीर-इन्द्रियों के व्यापारोंका निर्वाह करो। 'अभिमानकर्ता मैं और जगत् इनमें कोई सम्बन्ध नहीं है, इसीलिये जगद् दर्शन भ्रान्तानुभवसिद्ध है। त्रिपुटी का परस्पर सम्बन्ध एकता-मात्र है—अभिमान, अभिमन्तव्य आदि सब प्रत्यगात्मा के विवर्त है, साक्षिस्वरूप से ये भिन्न नहीं हैं। सुतरां परिच्छिन्न दृश्य-त्रिपुटी आश्रय-शून्य हैं, शुद्ध आत्मा उनका आश्रय नहीं है, अतः वे मिथ्या हैं—ऐसे विचार (युक्ति पूर्वक मनन) की सहायता से निरन्तर भावना (निदि-ध्यासन) करने पर अध्यास (अहंआदि वासनाएँ) धीरे-धीरे निवृत्त हो जाता और अन्त में अपना आत्मस्वरूप सम्यक् प्रकाशित हो जाता है। देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और व्यष्टि-समष्टि अहंकार (जीव-भाव) सब कुछ अनात्मा है, इन्हें सत्य समझना या समाचीन जानकर इनका समाश्रयण करना 'अध्यास' कहा जाता है। यही अभिमान या अनात्मवासना है। अध्यास की सम्यक् निवृत्ति ही मुक्ति है। सर्वप्रथम 'मैं शुद्ध साक्षी मात्र हूँ, चित्त का अनुवर्तन करना मेरे लिवे अनुचित है इस प्रकार के विचार (आत्ममनन) की सहायता से त्रिपुटी का निरसन करना चाहिए। इसके सम्पन्न होने पर ही शुद्ध, ज्ञानस्वरूप आत्मा क्षण-क्षण में भीतर प्रकाशित होता है (निदिध्यासन)। अन्त में इस आत्मानुभव का तब तक निरन्तर अभ्यास करना चाहिए, जब तक कि अध्यास निवृत्त न हो जाय और प्रतिबन्धशून्य प्रत्यक् प्रकाश हृदय में सम्यक् उदित न हो जाय। पूर्ण आत्मानन्द का सहज अनुभव जीवनमुक्ति है। ज्ञान के संस्कारवशात् शुद्ध स्वरूप का विस्मरण नहीं हो सकता। अतः प्रारब्धभोग या पाप-पुण्य करने पर ज्ञानी को कोई लेप नहीं होता। 'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते,' 'न स भूयोऽभिजायते' आदि गीतावचन इस सम्बन्ध में प्रमाण है। अविद्या-वरणके निवृत्त होनेसे ज्ञानी परमात्मस्वरूप हो जाते हैं और अद्वितीय आत्मा में किसी प्रकार का बन्धन रह नहीं सकता। 'ध्येयवासनात्याग'

और ज्ञेयवासनात्याग' का निरूपण पीछे किया जा चुका है।

एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयवह्निना।
प्रज्वाल्य द्वैतगहनमेक एव सुखी भव ॥ ४ ॥

मैं अकेला ही हूँ। दूसरा कोई भी नहीं है। अर्थात् शुद्धस्वरूप आत्मा में सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद बिल्कुल नहीं हैं। मैं केवल प्रकाशक (प्रकाशस्वरूप) हूँ, मुझमें दृश्यत्रिपुटि रह नहीं सकती। यह वेदान्त सिद्धान्त समस्त भेदों का निरसन करता है, 'मैं यह हूँ, ये दूसरे हैं' ऐसी भेदप्रतीति को नष्ट करके अपने अद्वितीय सुखस्वरूप में स्थित हो जाओ। परिछिन्न, विकारी चिदाभास (प्रमाता) अहं शब्द का वाच्यार्थ है, जो त्रिपुटि का अन्तःपाती दृश्य अहभाव का अनुभव करता है, साक्षात् प्रकाशित करता है, वही साक्षी आत्मा वास्तविक 'मैं' है—यह 'मैं' शब्द का लक्ष्यार्थ है। मैं कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता चिदाभास को जानता हूँ, उसके सुख-दुःखों को प्रकाशित करता हूँ, किन्तु प्रकाशस्वरूप होने के कारण प्रकाश्यपदार्थसम्बन्धी गुण-दोष मुझे स्पर्श नहीं करते, मैं कभी विकार को प्राप्त नहीं होता। मैं असङ्ग, कूटस्थ साक्षी आत्मा हूँ। जीवचेतन मेरा प्रतिबिम्ब है। अन्तःकरण में त्रिविध चिदाभास (ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानरूप त्रिपुटी) मिथ्या है। पञ्चभूतों का कार्य होने से अन्तःकरण मिथ्या है। बिम्बभूत प्रत्यक् चेतन ही एकमात्र सत्य है यही वास्तविक 'मैं' हूँ।

सुषुप्ति-अवस्था में चिदाभास नहीं रहता, किन्तु 'मैं' प्रकाशरूप में रहता हूँ। उस समय मैं अविद्या की सुखाकार, साक्षी-आकार और अज्ञान-आकार तीनों वृत्तियों को प्रकाशित करता हुआ स्थित रहता हूँ। उस समय मेरा 'सौषुप्त आनन्दमय' होता है। अविद्या से मेरा किसी प्रकार अध्यास नहीं रहता। मैं भोक्ता आनन्दमय के केवल प्रकाशकरूप में अवस्थित रहता हूँ। प्रकाश मेरा निजरूप है।

जाग्रत्-स्वप्न में भी मैं निर्विकार स्थित रहता हूँ, क्योंकि विश्व, तैजससे मैं सर्वदा विलक्षण हूँ। निर्विकल्प समाधि-अवस्था में भी मैं

निज शुद्धस्वरूप में प्रकाशमान रहता हूँ। उस ससय अन्तःकरण मुझसे अभिन्न हो जाता है। साक्षात्कारवृत्ति का उदय होने पर यह अन्तःकरण बाधित हो जाता है। उस समय मैं तुरीयरूप में स्थित रहता हुँ ('आनन्दमय का द्वंविध्य' शीर्षक निबन्ध देखिये)। वस्तुतः मैं अद्वैत या तुरीयातीत भी नहीं हूँ। अनुभव से ज्ञात होने पर भी मैं वाणी वृत्ति से अतीत हूँ। साक्षात् अपरोक्ष मुझमें साक्षात्कारवृत्ति भी कल्पित है। यह आवरण-निवृत्ति के लिए आवश्यक होने पर भी मैं सर्वदा निरावरण अवस्थित रहता हुँ।

अनात्मा में आत्मबुद्धि ही बन्धन है और उसकी निवृत्ति ही मुक्ति हैं। अपने को शुद्धरूप जानकर विचार एव परिपक्व ध्यान के परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष दर्शन करने पर—मुक्तिसुख स्वयं प्राप्त होता है, यह अब बतलाया जा रहा है—

देहोऽहं मानपाशेन दृढं बद्धोऽसि सर्वतः।
बोधोऽहं ज्ञानसङ्गेन तं निकृन्त्य सुखी भव ॥ ५ ॥

'मैं यह शरीर हूँ' ऐसी दृढ़ प्रतीति जीव को संसार में बद्ध करती है। तुम इस अभिमान से सर्वथा बद्ध हो। तुम्हारा कर्त्तव्य यही है कि तुम अपने को ज्ञानस्वरूप आत्मा जानकर, निदिध्यासन की सहायता से आत्मवासना की वृद्धि करके निज निरावरण स्वरूप का साक्षात्कार करो। तभी देहवासना की सम्यक् निवृत्ति होगी और तुम परमानन्द प्राप्त कर सकोगे। निर्विकल्प समाधि का परिपाक (भेदवासना के निःशेष विलीन) होने पर सम्यक् ज्ञान का जो उदय होता है, वही भवबन्धनाश में समर्थ होता है। आवरण की सम्यक् निवृत्ति के विना मुक्तिसुख प्राप्त नहीं होता। मुमुक्षु पुरुष को दृश्यनिरसन, उत्तरोत्तर शुद्ध आत्मा का प्रकाशन और चिन्मात्र-वासना का प्रचय—इन तीनों के लिए समकाल में प्रबल प्रयत्न करना चाहिए।

परमकारुणिक भगवान् वशिष्ठ पुनः निषेधमुख एवं विधिमुख से ज्ञानसाधना का उपदेश कर रहे हैं, क्योंकि आत्मज्ञान ही परमपुरुषार्थ अतएव प्रबल प्रयत्नसाध्य है—

अनात्मनि रतिं त्यक्त्वा निर्विभागो जगत्स्थितौ।
एकनिष्ठतयाऽन्तस्थः सच्चिन्मात्रपरो भव ॥ ६ ॥

हे रामचन्द्र ! तुम इस दृश्यमान संसार में भेदकल्पना मत करो। अर्थात् जागतिक पदार्थ एवं प्राणिसमूह में एकमात्र, शुद्ध, प्रकाशरूप प्रत्यगात्माको ही देखो। भीतर केवल निज आत्मस्वरूप में निश्चलरूप से स्थित रहो। इससे तुम्हारा अखण्ड अन्तःकरण सत् चित्, प्रत्यक् परमात्मा में समुद्र में निक्षिप्त लवणपिण्ड के समान एकीभूत (तद्रूप) हो जायगा। देहादि में अनुरागत्याग इसका एकमात्र उपाय है, क्योंकि देहादि में अनासक्ति हुए बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता। जिस वस्तु में प्रीति होती है, चित्त उसी में संलग्न होता है, चित्त उस विषयके आकार को ग्रहण करता है। फलतः जीव उसमें आसक्त होता है-'यो यद्भक्तः स एव सः।' सुतराम्, आत्मैकनिष्ठा के सम्पादनार्थ मुमुक्षुजनों को विषयप्रीति का अवश्य वर्जन करना चाहिये (देखिये १९ वाँ श्लोक)।

दृश्य का परित्याग हुए बिना चित्त शुद्ध स्वरूप में अखण्ड निमज्जित नहीं हो सकता। भेदबुद्धि गलित हुए बिना चित्त अखण्डाकार में स्थित नहीं होता। अनन्यव्यापार एवं तदेकनिष्ठ होकर चित्त को भीतर निश्चल ब्रह्माकर में विलीन करना चाहिये (उपशम-प्रकरण के १७वें सर्ग से ५९ वें सर्गतक देखिये)। ब्रह्मभावना का माहात्म्य शास्त्र में सर्वत्र देखने में आता है -'तच्चिन्तनं तत्कथनम्' 'क्षणमात्रं न तिष्ठन्ति', 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्', निदिध्यासं लक्षगुणम्' आदि। विपरीत भावना (देह एवं जगद्भासना) ही आवरण है, ब्राह्मभ्यासद्वारा वह नष्ट हो जाता है। उस समय प्रत्यगात्मा स्वयं आविर्भूत होता है। साधन के बिना साध्य सिद्ध नहीं हो सकता।

प्रश्न—देह में प्रीति का परित्याग करने पर शरीररक्षा किस तरह हो सकेगी ? उत्तर—शरीर का पोषण ईश्वराधिष्ठित प्रारब्ध करता है। 'प्रारब्धं पुष्यति वपुः', 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' इत्यादि शास्त्र प्रसिद्ध हैं। ईश्वर ही सब कुछ करते हैं, यह श्रुति-स्मृति का सिद्धान्त हैं (१०-१। श्लोक भी देखिये) सुतरां आत्मैकपरायण होकर 'आत्मा ही ईश्वर है, इस प्रकार मुमुक्षु को सर्वदा आत्मा का ही अनुभव (भावना, ध्यान, समाधि) करना चाहिए। इससे सजातीय संस्कार बढ़ता है, अन्यथा अनात्मवासना कभी नष्ट नहीं हो सकती।

प्रश्न—ब्रह्म एकमात्र सत्य वस्तु और स्वयम्प्रकाश है। उसमें भावना का उपयोग किस प्रकार हो सकता है ? उत्तर—ब्रह्म भावना-जन्य नहीं है, उसमें भावनाकृत विशेष भी सम्भव नहीं है। तथापि स्वरूपचिन्तन की अत्यन्त आवश्यकता शास्त्र में उपदिष्ट हुई है। इसका कारण यही है कि अस्वरूप का परित्याग करने पर ही स्वरूप का अनुभव (हृदय में अनुभव स्वरूप का आविर्भाव) सम्भव होता है। दीर्घकालीन अनवच्छिन्न अनुभव जन्य संस्कार विषयवासना के परभाव (शिथिलीकरण) में समर्थ होता है। चिन्मात्रवासना के अधिकतर दृढ़ होने पर जीव और जगत् की भेदवासना समूल नष्ट हो जाती है। 'ब्रह्मध्यान से पाप नष्ट होता है', 'परोक्ष ब्रह्मज्ञान बुद्धिपूर्वक किये गये पाप का विनाश करता है' आदि स्मृतिवचनों का परमात्मवासना के अवश्यम्भावी उत्तरोत्तर उपचय में तात्पर्य है। देहवासना केवल प्रबलतर आत्मवासना की सहायता से ही पराभूत होती है।

अजाग्रत्स्वप्ननिद्रस्य यत्तेरूपं सनातनम्।
सचेतनं विशुद्धञ्च तन्मयो भव सर्वदा ॥ ७ ॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थारहित जो तुरीय (चतुर्थ) शुद्ध (साक्षी) आत्मा तुम्हारा यथार्थ स्वरूप है, तुम सर्वदा वही हो जाओ।

वह नित्य-निरावरण और स्वयंज्योति ब्रह्म है, तुम वही हो। तुम्हारा अपना परिच्छिन्न प्रमातृभाव (आविद्यक, उपाधिकृत अतएव मिथ्या है। साक्षी द्वारा प्रकाशित (अनुभूत) होने के कारण सभी त्रिपुटियाँ दृश्य हैं। तुम केवल द्रष्टा हो। तुम अवस्थात्रययुक्त प्रमाता नहीं हो सकते। प्राण, करण और विषयों का सम्बन्ध तुममें आरोपितमात्र है। वैराग्य, त्यागरूप यत्न की सहायता और मनन, ध्यानरूप स्वव्यञ्जक उपाय से आत्मलाभार्थ अभ्यास करो। यही निदिध्यासन तुम्हारे स्वरूप के बोध(आत्मसाक्षात्कार) में पर्यवसित हो जायगा। अविचार से अध्यस्त परिच्छिन्नता (अहंभाव) का अपगम होने पर तुम मुक्तिसुख का अनुभव करोगे।

सर्वत्याग ही स्वरूपप्राप्ति का उपाय है। अहं आदि सब विषयों (दृश्यों) का त्याग तबतक करते रहना पड़ता है (यही अनात्मनिरसन है, जबतक स्वात्मा स्वयं प्रत्यक्‌रूप में हृदय में सम्यक् प्रकाशित न हो जाय। विषयवासना का परिक्षय होने पर यह सम्भव होता है। अतः तुम नित्य निरन्तर सब दृश्यों का परित्याग करके विशुद्ध द्रष्टा-स्वरूप में मन को समाहित करो। आवरण की निःशेष निवृत्ति होने पर तुम ब्रह्म हो जाओगे। 'अहम्' 'इदम्' और पदार्थों की प्रतीति (प्रमिति) – ये सब अनित्य, प्रमातृवेद्य या साक्षीभास्य और बन्धन के कारण हैं। मेरा वास्तविक स्वरूप विशुद्ध साक्षी (ब्रह्म) है। मैं इस प्रत्यक् सुखस्वरूप का मननपूर्वक निरन्तर ध्यान (अनुभव) करता हूँ। नित्य निरन्तर ब्रह्मानुभव के फलस्वरूप ब्रह्मवासना बढ़ती जाती है और अहंवासना के प्रबलतर होने पर प्रमातृभाव बाधित हो जाता है। फलस्वरूप मैं स्वयं ज्योति ब्रह्मस्वरूप में स्वयं और सर्वदा स्थित रहता हूँ।

अब भगवान वशिष्ठ सकलदृश्यों के निरसनपूर्वक निदृश्य दृक् स्वरूप में स्थिति का उपदेश स्पष्टरूप से करते हैं—

मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव ।
भावनामखिलां त्यक्त्वा यन्मयस्तन्मयो भव ॥ ८ ॥

तुम किसी विषय में 'यह मेरे ग्रहणयोग्य है, ऐसी बुद्धि मत करो। किसी विषय में ग्रहीता भी मत बनो। ग्राह्य-ग्राहकादि समस्त भावनाओं का परित्याग कर तुम्हारा जो स्वरूप अन्त में शेष रहे, वहीं ब्रह्मरूप तुम हो जाओ। चिदाभास दृश्य-त्रिपुटि में सत्यताबुद्धि करना ही ग्राह्य-ग्राहकभाव का अंङ्गीकार करना है। इसका कारण वासना है। विचार के अवलम्बन से 'समस्त दृश्य अविद्या का कार्य है, अतः मिथ्या है' ऐसा जानकर 'अहम्' और 'इदम्' भाव का परित्याग करके अन्त में अवशिष्ट प्रत्यक् प्रकाश का स्वयं अनुभव करो। क्रमशः निरन्तर निदिध्यासन एवं निर्विकल्प समाधि के अभ्यास से अद्वैतवासना प्रबल होगी। परिणामस्वरूप साक्षात्कार उदित होने पर समस्त भेदवासना नष्ट हो जायगी और तुम स्वयं निज ब्रह्मस्वरूप में सम्यक् स्थित होगे। ग्राह्य (विषय) और ग्राहक (परिच्छिन्न विकारी तुम) निर्विकार साक्षीस्वरूप तुम्हारे प्रतिबिम्बमात्र हैं, अतः दोनों मिथ्या हैं। शुद्ध चैतन्यस्वरूप तुम्हारी सत्ता स्फुरण प्राप्त करके-तादात्म्य संसर्गाध्यास के बल पर-समस्त त्रिपुटिदृश्य सत्य प्रतीत होता है। तुम यदि उनके साथ न मिलो-उन्हें आश्रय न दो, तो वे मिथ्या हो जायँ, अनुभव में भी न आयें। निर्विषय, निराभास तुम ही उस समय अपने निर्विकार स्वरूप में स्वयं भासमान होते हो। यही परिपूर्ण प्रत्यक् ब्रह्मरूप में सहज स्थिति है (देखिये चित्तविश्रान्ति' नामक निबन्ध)।

शुद्धि स्वरूप में स्थित का सौकर्य बतलाते हुए कहते हैं—

सङ्कल्पनैव सङ्कल्पं मनसैव मनो मुने ।
छित्त्वा स्वात्मनि तिष्ठ त्वं किमेतावति दुष्करम् ॥ ९ ॥

हे मननशील राम ! तुम ग्रहण आदि विषयक किसी प्रकार का

सङ्कल्प (इच्छा) मन में उठने न दो, किन्तु वासनाशून्य मन की सहायता से सब सङ्कल्पों को छिन्न कर फेंको। मन को निःसङ्कल्प करने से निज शुद्ध स्वरूप में स्वयं अनायास स्थित हो जाओगे, क्योंकि सङ्कल्पवर्जनमात्र अत्यन्त सुकर है। क्षण-क्षण में इच्छा का उदय होने पर आत्मानुभव होता है और अद्वैतवासना उपचित होने लगती है। सत्य एवं सरस रूप में बुद्धि में विषयों के स्फुरित न हो सकने पर शुद्ध साक्षिस्वरूप का सहज अनुभव सम्भव होता है। त्रिपुटीरूप दृश्य प्रतिभासमात्र है, अतः उसका प्रतिक्षण त्याग अनायास सिद्ध होता है। सब विषय अविद्या के कार्य हैं। वे अल्प, परिणामी और परिश्रमसाध्य हैं। जिसका संयोग होता है, उसका वियोग अवश्य ही होता हैं। सुतराम् अन्त, मध्य और आदि में विषय दुःख के ही हेतु होते हैं। विषयों में सुख रह ही नहीं सकता, क्योंकि वह आत्मा का धर्म है। आत्मा का सुख अभीष्ट विषय में कल्पित होता है। ऐसे विवेक, वैराग्य तथा विचार के अवलम्बन से भीतर शुद्ध दृगात्मा का अनुसन्धान होता है। त्रिपुटीदृश्य के साथ सम्पर्कवर्जन करने पर ही शुद्ध प्रत्यग्रूप में प्रकाशित हो जाता है। दृढ़ निदिध्यासन के फलस्वरूप साक्षात्कार का उदय होता है और मुमुक्षु जीवदशा में मुक्त एवं कृतार्थ हो जाता है।

कस्तवायं जडो मूको देहो भवति राघव।
यदर्थं सुखदुःखाभ्यामवशः परिभूयसे॥ १०॥
क्व मांसरुधिरादीनि क्व त्वं चैतन्यविग्रहः।
विजानन्नपि देहेऽस्मिन्नात्मबुद्धिं जहासि किम्॥ ११॥

हे राघव! अचेतन, इन्द्रियरहित यह शरीर तुम्हारा कौन है? अर्थात् देह से तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है, जिस देह के लिए परतन्त्र होकर निरन्तर सुख-दुःख भोगते हो। देह रक्त-मांसमय है, तुम प्रकाशरूप हो। यह जानकर भी इस देह में तुम आत्मबुद्धि का परित्याग

क्यों नहीं करते ? तुम (आत्मा) प्रकाशस्वरूप हो, शरीर अत्यन्त जड़ है, इन्द्रिय और मन की चेतनता भी उनकी नहीं है। तब तुम शरीर किस प्रकार हो सकते हो या शरीर तुम्हारा कैसे हो सकता है ? अत्यन्त विजातीय दो पदार्थों में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं हो सकता। देह से जब तुम्हारा कोई सयुक्तिक सम्पर्क नहीं है, तब तुम शरीर के लिए निरन्तर अवश होकर क्यों परिश्रम करते हो और फलस्वरूप नाना-प्रकार के विकारों को क्यों प्राप्त होते हो ? शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन बुद्धि और अहङ्कार ये अनात्मा हैं, इनमें तुम कोई भी नहीं हो। देहादिका स्वरूप और स्वभाव तुमसे अत्यन्त भिन्न है। इनका मूल साभास होते हुए भी जड़,परिच्छिन्न एवं परप्रकाश्य है। तुम प्रकाशक, प्रकाशरूप और भूमा हो। शरीरादि क्षेत्र हैं और तुम हो क्षेत्रज्ञ। तुम अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होने का प्रयत्न करो। तुम नित्य, सुखरूप और सर्वप्रकाशक (सर्वज्ञ) हो। तुम अपना शुद्ध स्वरूप मत भूलो। अशुद्ध चित्त, अहङ्कार के साथ मिलकर ही जन्ममरणरूप बन्धन एवं सुख-दुःख रूप सब विकारों को भोग रहे हो। तुम असत्(अवस्तुभूत), दुःखप्रद विषयों में आस्था छोड़ दो। निज सच्चिदानन्द, परमगम्भीर स्वरूप में जाग्रत् हो और चिरसुखी हो जाओ। जब तुम्हारे निज सनातन स्वरूप में किसी प्रकार का दुःख नहीं है तब तुम मिथ्या पदार्थों की इच्छा करके वृथा बन्धन को क्यों प्राप्त होते हो ? एक ही क्षण में तुम इस कल्पित बन्धन से मुक्त हो सकते हो।

एतावतैव देवेशः परमात्मावगम्यते।
काष्ठलोष्ठसमत्वेन देहोऽयमवगम्यते ॥ १२ ॥

इस स्थूल शरीर को काष्ठ एवं मृत्तिकाखण्ड के समान तुच्छ समझ लेने पर ही शुद्ध प्रत्यग्ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है। देह को तृण-काष्ठ के समान जानना ही उत्कृष्ट ज्ञान है, क्योंकि इससे सब सङ्कल्प नष्ट हो जाते और अचल अन्तःकरण में प्रत्यगात्मा स्वयं भासमान हो

जाता है। "दृश्यस्याग्रहणं कथं नु घटते देहात्मना तिष्ठतः"। देह में आत्मबुद्धि का वर्जन करने पर सहज में ही दृश्यनिरसन सम्भव होता है और प्रशान्त हृदय में आत्मप्रकाश उदित होता है। देह में आसक्ति या अभिमान के बिना चित्त में विषयों का स्फुरण नहीं होता। दृश्यमान प्रपञ्च अविद्या का विलासमात्र हैं, इसलिए निरभिमान जीवन्मुक्त पुरुष की दृष्टि में जगत् सत्यरूप में प्रतीत नहीं होता। स्वप्नप्रपञ्च जाग्रत् में जैसे मिथ्या हो जाता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में जागतिक पदार्थ असत्य हो जाता है।

अहो नु चित्रं यत् सत्यं ब्रह्म तद्विस्मृतं नृणाम्।
यदसत्यमविद्याख्यं तत् पुरः परिवल्गति ॥ १३ ॥

विचार करने पर यह बड़ा आश्चर्य मालूम पड़ता है कि जो सत्य आत्मब्रह्म है, मनुष्य उसे भूल गया है और जो अविद्या या अवस्तुभूत देहादि है, उन्हें प्रत्यक्ष सत्यरूप में देख रहा है। अपना ब्रह्मस्वरूप भूलकर सांसारिक मनुष्य देह में आत्मबुद्धि करता है। विचार उत्पन्न होने पर देहात्मबुद्धि (अहंअभिमान) और व्यर्थ आयास क्षीण हो जाता है सुतरां शुद्ध स्वरूप का विचार और निदिध्यासन (अनुभव) मुमुक्षु पुरुष का अत्यन्त कर्तव्य है।

अन्यच्चित्रं यत् परमं ब्रह्म तद्विस्मृतं नृणाम्।
यन्मभेदमविद्याख्यं तत् पुरः प्रबलायते ॥ १४ ॥

दूसरा आश्चर्य यह है कि जीव अपना अपरिच्छिन्न ब्रह्मस्वरूप भूल गया है और जो अविद्या (अहङ्कार-ममकार) है, वह प्रबल हो गया है। शुद्ध परमात्मरूप के अविद्याद्वारा आवृत्त होने पर अशुद्ध अहं-ममभाव जीव को विक्षेपदशा में ले जाते हैं। अविद्या में सब कुछ सम्भव होता है (लवण तथा गाधिका आख्यान उत्पत्ति एव उपशम प्रकरणों में देखिये)। साक्षात्कार उदय का होने पर अविद्या नष्ट हो

जाती है, उसके कार्य अहन्ता और ममता भी साथ ही साथ नष्ट हो जाते हैं। जीवन्मुक्त के उपदेश आदि समस्त व्यवहार अज्ञ पुरुष द्वारा कल्पित होते हैं। यह माया अथवा नियतशक्ति का विलासमात्र है।

सर्वं ब्रह्मेति यस्यान्तर्भावना सा विमुक्तिदा।
भेदबुद्धिरविद्येयं सर्वथा तां परित्यज ॥ १५ ॥

अविद्यानिवृत्ति ही जीवन्मुक्ति है। दृश्य दर्शन का अभाव हो जाने पर विज्ञानस्वरूप प्रत्यगात्मा शुद्ध अन्तःकरण में स्वयं भासमान होता है। इसीलिए मुमुक्षु नित्य-निरन्तर निज शुद्धस्वरूप की ही भावना करे, यह प्रकरण के उपसंहार-श्लोक में परम् कर्तव्यरूप से उपदिष्ट हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि जिनके चित्त में परमात्मवासना स्वतः एवं सर्वदा स्फुरित होती है, जो सब अनात्मविषयों को निश्चित-रूप से मिथ्या समझते हैं वे मुक्त हो जाते हैं। नानापदार्थों में सत्यता बुद्धि ही 'अविद्या' है। मुमुक्षु को हर प्रयत्न से अनात्मा में इस आत्म-बुद्धि का परित्याग करना चाहिए। जगत् और दृश्यमान अखिल प्रपञ्च माया का विलासमात्र है। अविद्या के स्फुरण (परिणाम या वृत्ति) के सिवा दृश्यत्रिपुटी और कुछ भी नहीं है। निर्दश्य द्रष्टा ही एकमात्र सत्य है। सुतरां समस्त अनात्म त्रिपुटिदृश्य को मिथ्या जान-कर निज शुद्ध अधिष्ठान प्रत्यक्स्वरूप में स्वतः और सर्वदा स्थित रहना मुमुक्षु का एकमात्र कर्त्तव्य है, यह पीछे छठे श्लोक में भी बतलाया गया है— 'बहुशास्त्रकथाकन्थारोमन्थेन वृथैव किम्। अन्वेष्टव्यं प्रयत्नेन तत्त्वज्ञैर्ज्योतिरान्तरम् ॥'

—:o:—

भोगवासना तथा भेदवासना की निवृत्ति होने पर ही जीवन्मुक्ति-अवस्था प्राप्त होती है। अहम्भावना का विनाश होने पर शुद्ध आत्मा ही हृदय में स्वयं और सर्वदा भासमान होता है। ईप्सित विषयों की प्राप्ति और उपभोग में जो मोद-प्रमोद का अनुभव होता है, वह आनन्दात्मा प्रतिबिम्बमात्र है। वह सुख क्षणिक है, चित्त में अन्य विषय की इच्छा उदित होने पर वह तिरोभूत हो जाता है। विषय-प्राप्ति वास्तविक नहीं है, वह केवल दृढ़सङ्कल्पमात्र है। इन्द्रियसन्निकर्ष या उद्रिक्त वासनाजनित अन्तःकरणसम्बन्धी तदाकार वृत्ति की उत्पत्ति के फलस्वरूप 'यह विषय मुझे प्राप्त हुआ है' ऐसा अभेदप्रत्यय (दृढ़ निश्चय) होता है। व्यावहारिक प्रमाणजनित होने पर ही इस प्रत्यय का व्यत्यय देखा जाता है। सभी प्रत्यय क्षणिक परिणामी और विनश्वर होते हैं। वे साक्षिचैतन्य द्वारा प्रकाशित होते है। प्रकाशरूप मैं ही एकमात्र सत्य है। सङ्कल्पित पदार्थों या अपने प्रमातृ-स्वरूप से अभिन्न विषय में किसी भी बुद्धिमान पुरुष की प्रीति नहीं हो सकती। ऐसे विचारों से 'भोगवासना' शिथिल हो जाती है।

अन्तःकरण के त्रिविध परिणाम या प्रत्यय (दृश्यत्रिपुटि) कूटस्थ प्रकाशक मुझसे भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार साक्षी आत्मा में परिच्छिन्न त्रिपुटि का विलय होता है, परिणामस्वरूप 'भेदवासना' नष्ट हो जाती है। त्रिपुटीसाक्षी शुद्ध प्रकाशकरूप मैं भी निज सुखस्वरूप में विराजमान होता है। अन्तःकरण के समस्त प्रत्ययों का साक्षी (अहं आदि के भाव तथा अभाव का ज्ञाता) वास्तव में असङ्ग अखण्ड, अद्वय, एकरस (जगत्साक्षी) ब्रह्म है। अतः अखिलवृत्त्यवच्छिन्न कटस्थ चेतन अन्ततः विषयावच्छिन्न प्रत्यग्ब्रह्म में लीन हो जाता है। यह ज्ञान की पूर्णता है, यही प्रत्यक्ष ब्रह्मबोध और निःसीम निजानन्द की अभिव्यक्ति का हेतु

है। साक्षात्कारवृत्ति का उदय होने पर स्वात्मा स्वयं भासमान होता है। आवरणनिवृत्ति के लिए वृत्तिज्ञान अपेक्षित है। आत्मप्रकाश में फलव्याप्ति का प्रयोजन नहीं रहता। प्रयत्नपूर्वक चित्त में सभी स्फुरणों का अभाव सम्पादित होने पर निर्दृश्य द्रष्टा प्रसन्न होता है-स्वयं हृदय में आविर्भूत होता है। हृदय में लेशमात्र भी कल्पना को उदित न होने देकर मुमुक्षु को निःसंकल्प स्थित रहना चाहिए। अन्यथा वासना या मनोराज्य का उदय होने पर विक्षेप अवश्य ही होगा। किसी भी प्रकार की इच्छा को चित्त में एकक्षण के लिए भी यदि उदित होने दिया जाय, तो फिर बाद में उसका निरोध कठिन हो जाता है। अतः सावधान होकर विषयवासना के उद्रेक को प्रथम क्षण ही बन्द कर देना उचित है,अन्यथा सत्ता-स्फूर्ति और सरसता पा लेनेपर हृदय से विषयों का बहिष्करण दुष्कर हो जाता है। अन्तमें जो करना ही पड़ेगा,विचारशील पुरुष के लिए उनका पहले ही सम्पादन कर लेना हितावह है।

इस प्रकार पहले सब वृत्तियों को भगवान् आत्मदेव में अर्पण करना पड़ेगा-उनका विलय सम्पादन करके विशुद्ध अन्तःकरण में कूटस्थ आत्मा का सम्यक् अनुभव करना होगा। इस आत्मार्चन के फलस्वरूप धीरे-धीरे भेदवासना निवृत्त हो जाती है और हृदय में शिवस्वरूप आत्मा पूर्णरूप से प्रकाशित होता है। यह 'आत्मार्चन' इस आठवें प्रकरण में प्रदर्शित होगा। पूजा या अर्चन(अभेदभावना, निदिध्यासन) या तन्मयता के फलस्वरूप शुद्धात्मस्वरूप का बोध होता है। स्वात्मशिव का चिन्तन या अनुभव 'बाह्य-पूजा' है। सर्वत्र अस्ति, भाति, प्रिय के रूप में अधिष्ठान आत्मदेव का दर्शन या जगत् को ब्रह्ममय देखना है। ('भगवत्पूजन' समाधिषट्क' ये दो निबन्ध देखिये) शुद्धात्मा में त्रिपुटि के विलयपूर्वक आत्मानन्द का अनुभव 'आन्तर-पूजा' है। निर्वाण के पूर्वार्ध के ३८ और ३९ वें सर्गों में ये दोनों प्रकार की शिवपूजाएँ सुन्दररूप से वर्णित हैं।

आभ्यन्तर पूजा के फलस्वरूप आन्तर सविकल्प एवं निर्विकल्प समाधि सम्भव होती है। 'समाधिषट्क' निबन्ध में इसका क्रम विस्तृत रूप से निरूपित हुआ है। शुद्ध आत्मा के अर्चन या साक्षिस्वरूप में अवस्थान से अहंभावना का विलय होता है और व्यष्टि अन्तःकरण त्रिपुटीसाक्षी, जगत् के अधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप में पर्यवसित होता है। इस आत्मब्रह्म का निरूपण जगद्वासना या भेदवासना के आत्यन्तिक नाश एवं ज्ञान की दृढ़ता के लिए अगले नवम प्रकरण में किया जायगा। इसके अवश्यम्भावी फलस्वरूप जीवन्मुक्ति (ज्ञान के बल से अविकार, अनायास आत्मस्थिति या तृतीयप्रकरणोक्त लक्षणों) का मुमुक्षु उपशान्त अन्तःकरण में प्रत्यक्ष अनुभव करता है। सातवीं ज्ञानभूमिका में ब्रह्माकारवृत्ति विलीन हो जाती है। यही 'विदेहमुक्ति', 'अरूप मनोनाश, 'चित्तनिर्वाण' 'या ज्ञेयवासनात्याग' कहा जाता है। इस अन्तिम भूमिका में परमब्रह्मस्वरूप ज्ञात नहीं रहता, चित्त सम्यक् नष्ट हो जाता है। अतः ज्ञाततात्भाव (ब्रह्मज्ञानका संस्कार) भी निवृत्त हो जाता है। ऐसे ज्ञातत्वोपलक्षित परमब्रह्मस्वरूप का निरूपण दसवें प्रकरण में किया जायगा। यह अवशिष्ट तीन प्रकरणों की पूर्वापरसङ्गति है।

पूर्व-प्रकरण में विशेषरूप से निदिध्यासन का उपदेश किया गया है। इस प्रकरण में उसका फल शुद्धात्मा का ज्ञान निरूपित होगा। नवम प्रकरण में भेदभावना के क्षयपूर्वक साक्षात्कृत आत्मा का निरूपण किया जायेगा और अन्तिम दसवें प्रकरण में वृत्ति के अगोचर परब्रह्म का वर्णन कर इस छोटे से ग्रन्थ का उपसंहार किया जायगा। ध्यान, ज्ञान और साक्षात्कार की सहायता से विक्षेप, कषाय रसास्वाद आदि समस्त विघ्नों एव अनात्मवासना (आवरण) को हटाकर मुमुक्षु अपने निरायास, स्वप्रकाशस्वरूप में स्वयं सुखपूर्वक स्थित होता है। मुक्ति भी जीवद्वारा कल्पित है। परब्रह्म में वास्तविक ज्ञातत्वधर्म नहीं है। अन्तिम चार प्रकरणों तथा समस्त वेदान्तशास्त्र का यही सारसंग्रह है।

अब आठवाँ प्रकरण आरंभ किया जा रहा है। भगवान् वशिष्ठजी

कहते हैं—

यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्रम्य तिष्ठति ।
तदा तृणीकृताशेषः स्वयमेको भविष्यसि ॥ १ ॥

हे राम ! देहाभिमान दूरकर यदि तुम साक्षिस्वरूप में एकाग्र होकर स्थित हो जाओ, तो सारा जगत् तुम्हारे लिए तृण के समान तुच्छ हो जायगा और तुम अपने आनन्दब्रह्म का स्वयं अनुभव कर सकोगे। अष्टावक्र ने भी ठीक इसी प्रकार का उपदेश जनक को दिया था। 'देहादि से शुद्ध आत्मा अत्यन्त भिन्न है' यह जानकर देहादि-भावना का परित्याग करने से परिशिष्ट चिन्मात्र में आत्मभावना स्वयं प्रवर्तित होती है, क्योंकि आत्मसंवित् सर्वदा प्रत्यग्रूप में (मैं-मैं इस रूप में) स्फुरित होती है (नवम प्रकरण के प्रथम श्लोक की व्याख्या और 'चित्तविश्रान्ति' देखिये)।

देह के साथ सम्बन्धद्वारा बाह्य जगत् से सम्बन्ध होता है। देह, इन्द्रिय, प्राण, मन बुद्धि,अहंकार और अविद्या ये उत्तरोत्तर अधिकतर आन्तर हैं। अहंकार का सार सर्वान्तर प्रत्यगात्मा है। अनात्मवर्ग अन्तरात्मा को ढँक देता है, इसलिए मुमुक्षु दृश्यप्रपञ्च को मिथ्या जानकर निरन्तर आनन्दात्मा की भावना करता है। 'प्रश्नोत्तरी' में आचार्य कहते हैं-'अहर्निशं किं परिचिन्तनीयं संसारमिथ्यात्वशिवात्म-तत्त्वम्।" संसारकी मिथ्यात्व का निश्चय करना ही संसार का निराकरण है। संसार के सत्यता-बुद्धि का चित्त में उदय न होने पर चित्त से संसार भाग गया, आत्मा का आवरण अपसारित (अभिभूत) हो गया, फलस्वरूप आत्मा भासित हुआ और आत्मसुख का अनुभव हुआ ! देह,इन्द्रिय,मन बुद्धि के अध्यासपूर्वक व्यापार का नाम 'आयास' है। 'आयास' से ही दुःख का अनुभव होता है। आयास का परित्याग करने पर निरावरण, निराभास आत्मानन्द हृदय में प्रकट हो जाता है। साक्षात्कार का उदय होनेपर अध्यास (अनात्मा में आत्माभिमान)

निवृत्त हो जाता है। मुक्तपुरुष की स्वाभाविक चेष्टाएँ अविद्या का विलासमात्र हैं। वे दुःख का कारण नहीं होती; क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि में अविद्या अवस्तुभूत है, उसकी प्रतीति भी मिथ्या है।

प्रकाशरूप आत्मा को जो सत्य, शिव, और सुन्दर समझते हैं—यही आत्मार्चन है—वे देह या मन के व्यापारों से व्यथित नहीं होते। जड़ देह तथा मन को किसी प्रकार का दुःख हो नहीं सकता। उनमें अभिमान करके मूर्ख जीव व्यर्थ ही दुःख का अनुभव करते हैं। विविक्त आत्मा तो परमानन्दस्वरूप है। इस प्रकार शुद्धात्मा के अनुभव को वशिष्ठजी ने 'आत्मार्चन' कहा है। दृश्यरहित साक्षिचैतन्य का नाम शुद्ध आत्मा है। इसका निरूपण सातवें प्रकरण में किया जा चुका है। प्रकाशरूप आत्मा का अनुभव ज्ञान-रूप अर्चना है, इसका निरूपण इस प्रकरण में किया जा रहा है। ज्ञान (आवरणभङ्ग) होने पर ही स्वरूपानन्द का स्फुरण अवश्यम्भावी है, क्योंकि आत्मा निरतिशय सुख-स्वरूप है। आवरकृत विक्षेप के कारण पूर्णानन्द हृदय में अभिव्यक्त नहीं होता। इस प्रकार इस प्रकरण में सर्वत्र आत्मानन्द का अनुभव वर्णित है।

येनेदं वेत्सि तज्ज्ञात्वा कुरु प्रत्यङ्मुखं मनः।
ततः प्रकाशरूपत्वं द्रक्ष्यसि स्फुटमस्ति नः॥ २॥

जो आत्मप्रकाश की सहायता से यह जगत् ज्ञात होता है, उसके अनुसन्धान के लिए मन को आत्माभिमुख करो तभी अन्तर्मुख वृत्ति में प्रकाशस्वरूप आत्मा स्पष्ट अभिव्यक्त हो जायेगा। स्थूल, सूक्ष्म सभी विषय साक्षात् या प्रमाणकी सहायता से साक्षिचैतन्यद्वारा उद्भासित होते हैं। बाह्य घट या आन्तर सुखादि पहले अन्तःकरणविशिष्ट ज्ञाता के अवयवरूप में उसके एकदेश में स्थित होते हैं। फिर ज्ञेय ज्ञाता और ज्ञानरूप त्रिविध चिदाभास (त्रिपुटी) बिम्बभूत साक्षी के प्रकाशद्वारा कवलीकृत होती है। स्वप्रकाश साक्षी से उसकी भिन्न सत्तास्फूर्ति नहीं रहती, इसलिए दृश्य त्रिपुटि मिथ्या और प्रतिभासिकमात्र है।

जो साक्षी समस्त जगत्प्रपञ्च को प्रकाशित करता है, वह स्वयं ज्ञात रहता है। वह यदि स्वयं अप्रकाशित होता, तो उससे व्याप्त (क्रोडीकृत) वृत्ति और विषय किस प्रकार भासमान हो सकते? इस तरह सामान्य रूप में अनुभूत निज प्रत्यक्चेतन में चित्त को एकाग्र करो। कल्पित चेत्य, चिन्तक और चिन्तनरूप दृश्यत्रिपुटि का विलय साधन करके चित्त को अखण्डित (स्थिर, अचल) धारण करो। यदि चित्त का चैत्यभाव न रहा, तो वह निश्चल चित्त प्रत्यक्चेतन ही हो जायगा, अखण्ड चित्त में प्रकाशात्मा स्पष्ट प्रतिबिम्बित होगा। तुम स्वयं निज दृक्स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव करोगे। जगत् की प्रतीति आत्मा के निजी प्रकाश के अर्न्तवर्ती है। दृक्स्वरूपके बाहर यह प्रतीति नहीं हो सकती। अखण्ड प्रकाश से प्रपञ्चकी (त्रिपुटी की) भिन्न सत्ता नहीं है। आत्मा ही प्रमाता का प्रत्यक्ष भासमान निज स्वरूप है। आत्मा ही अनुभूयमान प्रमिति है, आत्मा ही साक्षात् जगद्रूप में प्रतीत हो रहा है (देखिये षष्ठ श्लोक)। चेत्य जगत् आदि सब आत्मा ही है, संसार अलग कुछ भी नहीं है। मैं (प्रत्यगात्मा ही) पूर्णरूप में विराजमान हूँ। फलतः चेत्य और चित्त शान्त हो जाता है और स्वयंज्योति आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है। यही प्रत्यक्शिवपूजन का प्रकृष्ट फल है।

येन शब्दं रसं रूपं गन्धं जानासि राघव।
तमात्मानं परं ब्रह्म जानीहि परमेश्वरम्॥ ३॥

हे राघव! जिस आत्मदेव के अनुग्रह से तुम शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का अनुभव करते हो, वह प्रत्यगात्मा ही जगत् का नियन्ता परब्रह्म है। वृत्तिरूप ज्ञेय और ज्ञान त्रिपुटीसाक्षी में अर्पित हो जाता है और इस अर्पण या पूजन के फलस्वरूप निर्विकार स्थित पूजक अन्त में अपने को पूर्ण ब्रह्मरूपमें स्वयं अनुभव करते हैं जैसे घट का विनाश होने पर घटाकाश महाकाशरूप में ही पर्यवसित हो जाता है, वैसे ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटी का विलय (अर्पण) होने पर कूटस्थ

प्रत्यगात्मा परमात्मस्वरूप में स्थित होता है। भेदवासना का सम्यक् क्षय होने पर व्यष्टि और समष्टि अन्तःकरण नष्ट हो जाता है और पूजक परमात्मा शिवस्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। वासनाक्षयपूर्वक शिवात्म-स्वरूप में दृढ़ स्थिति प्राप्त करने के लिए आगे के प्रकरण में अद्वय आत्मस्वरूप का निरूपण किया जायगा (मुमुक्षुओं के लिए अत्यन्त उपयोगी 'सृष्टिसमीक्षा' तथा वाच्यैक्यविमर्श' नामक लेख द्रष्टव्य हैं)।

यत्र भावा हि स्पन्दन्ते निर्मीयन्ते च येन च।
तमेवाऽऽमानमात्मानं रूपं जानीहि राघव ॥ ४ ॥

जिस आत्मस्वरूप में पृथिवी आदि समस्त पदार्थ स्पन्दित होते हैं, जिस आत्मा से वे उत्पन्न होते हैं, उस आत्मस्वरूप को जगन्नियन्ता परमेश्वर जानो। अधिकरण, कर्ता, नियन्ता आदि समस्त भाव उप-हित एकमात्र अद्वितीय परमात्मा में कल्पित है। एक सौषुप्त आनन्द-मय अज्ञानद्वारा जीव, जगत् और ईश्वर प्रतीत हो रहे हैं। अज्ञान के साथ इनका वास्तविक कोई अध्यास नहीं है। अतः जीव और ईश्वर एक अद्वितीय परब्रह्म हैं (देखिये 'आनन्दतत्त्वमीमांसा')।

सम्यज्ज्ञेयमिदं तत्त्वं नेति सन्त्यज्य युक्तिभिः।
प्राप्यावशिष्टचिन्मात्रं सोऽहमस्मीति भावय ॥ ५ ॥

जगत्सम्बन्धी जो-जो तत्त्व जानने के विषय प्रतीत होते हैं, न्याय-द्वारा निर्णय करने पर वे असिद्ध हो जाते हैं,। अतः उनका त्याग कर देने पर त्याग की परिसमाप्तिरूप में चैतन्यमात्र अवशिष्ट रह जाता है, क्योंकि त्याग के उपरान्त त्यागकर्ता अवश्य अवशिष्ट रहता है, उसीका प्रत्यग्रूप में पुनः पुनः अनुभव करो, यह आत्मदेव की पूजा है। समस्त चेत्य (विषय) जड़ एवं परप्रकाश्य हैं। उनका एकमात्र आत्म-प्रकाश है। संकल्पित पदार्थों का सार अधिष्ठान ही हुआ करता है (छठा श्लोक देखिये)। अतः समस्त कल्पनाओं का परित्याग होने पर

कल्पना रहित कल्पक का निजीरूप परिशिष्टरूप में स्वयं अनुभूत हो जाता है। मिथ्या ज्ञेय वस्तु का परित्याग से ज्ञाता के निजस्वरूप (अखण्ड ज्ञान या प्रत्यगात्मा) स्वयं प्रकाशित होता है। शुद्ध, बुद्ध, कल्पनारहित इस निज यथार्थस्वरूप का अनायास अनुभव आत्मपूजा का फल है। नित्य, निरन्तर ऐसी निष्काम मानसपूजा के फलस्वरूप आत्मदेव प्रसन्न होकर हृदय में प्रत्यक् परिपूर्णरूप में प्रकट हो जाते है। इस प्रकार आत्मार्चन के दीर्घकालीन अभ्यास से विषयवासना समूल निवृत्त हो जाती है और प्रत्यगभिन्न, आनन्दलक्षण, दृशिस्वरूप परमात्मा अप्रतिबद्ध रूप से हृदय में आविर्भूत होता है। इस साक्षाकृत आत्मस्वरूप या जीवनमुक्तिका निरूपण नवें प्रकरण में किया जायेगा।

त्रिपुटी-अन्त पाती समस्त दृश्य (चेत्य, चिन्तन और चित्त) मिथ्या है उनका प्रकाशक, प्रकाशस्वरूप प्रत्यगात्मा एकमात्र सत्य है, इस प्रकार समस्त भेदों का निरसन किया जा रहा है—

ज्ञानं न भवतो भिन्नं ज्ञेयं ज्ञानात् पृथङ् न हि।
अतो नाऽऽत्मेतरं किञ्चित्तस्माद्भेदो न विद्यते ॥६॥

साभास वृत्तिरूप ज्ञानप्रकाशक तुम्हारे निजरूप से भिन्न नहीं हैं। ज्ञेय विषय तदाकार वृत्तिरूप ज्ञान से अभिन्न है। सुतरां ब्रह्मातिरिक्त कुछ प्रकाशित नहीं हो रहा है, अतः द्वैतप्रपञ्च नहीं है। 'ज्ञेय' साभास अन्तःकरण का तामस परिणाम है, 'ज्ञान' राजस परिणाम और 'ज्ञाता' सत्त्वप्रधान परिणाम है। यह त्रिपुटी दृशिस्वरूप प्रत्यगात्मा के आलोक से परिव्याप्त होकर भासित होती है। आत्मज्योति ही इसकी सत्ता और स्फुरण है (दूसरा श्लोक देखिये) प्रत्यक् प्रकाश के सिवा ये नितान्त मिथ्या है, क्योंकि अनुभव के बिना किसी की भी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती और अनुभव एक अखण्ड वस्तु है, उसमें भेद का लेश भी नहीं है। जो प्रकाशित होता है, वह सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद तथा देश, काल एवं वस्तुकृत परिच्छेद से रहित एक अद्वितीय

ब्रह्म है। अन्य कुछ भी प्रकाशमान न होने के कारण समस्त द्वैतप्रपञ्च समूल (मूलाविद्या के साथ) बाधित हो जाता है। प्रबोधदशा में अनुपलब्ध होने के कारण जगत् का अत्यन्ताभाव सिद्ध होता है। आचार्य इस समाधिरूप उत्कृष्ट पूजन का उपदेश देते हुए कहते हैं — "एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयताम्, पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यताम्; जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम्।"

इस परमार्थ दशा का उपदेश करते हुए वशिष्ठजी कहते हैं—

ब्रह्मविष्णुशिवेन्द्राद्याः यद्यत्कुर्वन्ति सर्वतः।
तदहं चिद्वपुः सर्वं करोमीत्येव भावय ॥ ७ ॥
अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माऽहमव्ययः।
न भूतं नास्ति नो भावि मत्तोऽन्यदिति भावय ॥ ८ ॥

'ब्रह्मा, विष्णु और महादेव जिस सृष्टि, स्थिति और संहारकार्यको सर्वदा करते रहते हैं, वास्तव में चैतन्यरूप में ही सन्निधिद्वारा यह सब निष्पन्न करता हूँ—ऐसा अनुभव करना ही आत्मार्चन हैं 'यह दृश्यमान जगत् मैं ही हूँ, अविनाशी परमात्मा भी मैं ही हूँ, मुझसे पृथक् कुछ भी नहीं था, वर्तमान नहीं हैं और भविष्य भी न होगा', निरन्तर ऐसा अनुभव करना आत्मा का पूजन हैं। अखण्ड प्रकाशरूप एक परमात्मा ही (मैं ही) अज्ञानवशात् निर्विकार प्रकाशक, विकारी प्रकाशकर्त्ता और प्रकाश्य जगद्रूप में विवर्तित होता है (हूँ) यह 'सृष्टिसमीक्षा' नामक विस्तृत निबन्ध में श्रुति, युक्ति एवं अनुभूति की सहायता से प्रदर्शित है।

एकं ब्रह्म चिदाकारं सर्वात्मकमखण्डितम्।
निष्कम्पं भूरिवाशेषमिति भावय यत्नतः ॥ ९ ॥

नाहं न चान्यद्वाऽस्तीति ब्रह्मैवास्ति निरन्तरम् ।
आनन्दपूर्ण सर्वत्रेत्यनुद्वेगादुपास्यताम् ॥ १० ॥

एक अद्वितीय, अविनाशी चैतन्यरूप वस्तु ही सबके आत्मरूप में स्थित है। वस्तुतः अचल होते हुए भी वह बहुरूप में प्रतीत होती है। अतः उत्पन्न सभी पदार्थब्रह्म ही हैं, ऐसा यत्नपूर्वक अनुभव करो। यही आत्मा का अर्चन है। त्रिपुटी के अन्तःपाती, परिच्छिन्न मैं (अहङ्कार) नहीं हूँ अन्य प्रमाता, प्रमाण या प्रमेय कुछ भी नहीं हैं। एकरस परमानन्द ब्रह्म ही विराजमान है। सब भयों या उत्कण्ठाओं का परित्याग करके अपने स्वरूप का सम्यक् अनुभवकरना ही आत्मपूजन है। समस्त वेद्य पदार्थ का निरसन ही यत्न है। पूर्णात्मा का अनुभव रूप अमृतप्राप्ति अर्चन का फल है। त्रिपुटीप्रपञ्च का युक्तिपूर्वक निरसन पहले, पाँचवे तथा छठे श्लोक में प्रदर्शित किया जा चुका है। आत्मपूजन की सहायता से उसका क्षण-क्षण में बाध (अभावनिश्चय) हो सकता है (८ वाँ प्रकरण)। अन्तिम साक्षात्कार का उदय होने पर इसका प्रत्यक्ष अभाव दृष्टिगोचर होता है। यह जीवन्मुक्ति या निरावरण आत्मस्वरूप में सहज स्थिति है (९ वाँ प्रकरण)। प्रमातृभाव के परिहार में या मायिक पदार्थों के त्याग में कोई भय या उत्कण्ठा का कारण नहीं है (सर्वत्याग या संन्यास का स्वरूप और लक्षण 'आमनिरूपण' नामक निबन्ध में दिखलाया गया है)। कल्पित त्रिपुटीभाव का प्रतिक्षण विलयसम्पादन आत्मार्चन का रहस्य है। आनन्दस्वरूप प्रत्यागात्मा सम्यक् पूजन के फलस्वरूप हृदय में प्रकट हो जाता है। प्रकृष्ट पूजा का फल आत्मसाक्षात्कार है। परिच्छिन्न प्रमातृभाव (अहङ्कार) का सम्यक् त्याग किये बिना पूर्णानन्द की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं। द्वैतसम्बद्ध प्रमातृभाव ही समस्त भयों का हेतु, परिपूर्ण प्रत्यक्स्वरूप में किसी भी प्रकार के भय या उत्कण्ठा का अवसर नहीं है।

ग्राह्यग्राहकसम्बन्धे सामान्ये सर्वदेहिनाम् ।
योगिनः सावधानत्वं यत्तदर्चनमात्मनः ॥ ११ ॥

ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध प्राणिमात्र में साधारण होने पर भी योगिजन प्रत्यगानन्दस्वरूप में मन को निबद्ध रखते हैं । अपना कल्पित ग्राहकभाव त्यागकर, ग्राह्य विषयादि के मिथ्यात्व का दर्शन कर अपना परिशिष्ट प्रत्यक् चैतन्यरूप में अनुभव करते हैं । यही आत्मदेव का पूजन है-फूल, चन्दन आदि के अर्पण से प्रकृष्ट पूजन नहीं होता । सब देहधारी जीवों का विषयों के साथ सम्बन्ध होता है । अज्ञानी मनुष्य विषयों को सत्य समझता है और उनमें आसक्त होकर अपने को परिच्छिन्न एवं ग्राहक मानकर सुख-दुःख भोगता है । ज्ञानी पुरुष का विषयों से संसर्ग होने पर भी अपने को ग्राहक नहीं समझते या विषयों में आस्था नहीं करते । फलस्वरूप उनके हृदय में त्रिपुटीसाक्षी स्वयं प्रत्यग्रूप में भासमान होता है (९ वाँ प्रकरण का ३२ वाँ श्लोक और १० वें प्रकरण का २३ वाँ श्लोक देखिये) । यही ज्ञानयोगी का आत्मपूजन है । इसके सम्यक् अनुष्ठान से आत्मदेव प्रसन्न होकर पूजक के हृदय में स्पष्ट आविर्भूत होते हैं । आनन्दस्वरूप आत्मा का अप्रतिबद्ध साक्षात्कार उदित हो जाता है । इस प्रकार सम्यक् ज्ञात आत्मस्वरूप का निरूपण विस्तृत रूप से आगामी प्रकरण में किया जायगा ।

—: ० :—

इस छोटे से ग्रन्थ के अन्तिम तीन प्रकरणों की परस्पर सङ्गति अष्टम प्रकरण के आरम्भ में बतलायी जा चुकी है। इस नवम प्रकरण में सम्यक् परिज्ञात आत्मस्वरूप का निरूपण जीवन्मुक्ति-सुख के लिए किया जा रहा है। शुद्ध चैतन्य प्रत्यग्रूप में स्फुरित होता है। 'यह मैं हूँ, यह वह है' इस प्रकार देहादि के साथ मिलित चैतन्य का जो स्फुरण है, परिच्छिन्न देहादिविशिष्ट रूप में जो भाव है, वह 'जीवभाव' कहा जाता है, यह पहले श्लोक में बतलाया जा रहा है। भगवान् वशिष्ठजी कहते हैं—

तस्मिन् देहेन्द्रियादीनां सङ्घाते स्फुरति स्वतः।
अयं सोऽहमिति भावः स जीवो मलगुण्ठितः॥ १॥

प्रसिद्ध देहेन्द्रियादि-समूह में 'यह वह है', 'यह मैं हूँ' आदि रूप में अज्ञानयुक्त आत्मा का स्फुरण 'कृत्रिम जीवभाव' कहा जाता है। दृश्य के साथ सम्बन्ध, देहादि जगत्पदार्थ में सत्यताबुद्धि या अपने को देहादि-विशिष्ट या ईश्वर को जगत् का स्रष्टा मानना जीवभाव है। यह अज्ञान का कार्य है। यह आगन्तुक जीवभाव विचार की सहायता से नष्ट हो जाता है। पहले सकलविषयाकार वृत्तियों का अभाव करना चाहिये, फिर निरुद्ध अन्तःकरण में चिदात्मा स्वयं प्रकाशित होता है। जबतक योग (वृत्ति-निरोध) और ज्ञान (आवरणभङ्ग) की सहायता से आत्मा सम्यक् प्रकाशित नहीं होता, तबतक देहादिविशिष्ट रूप से प्रतीत होता सम्यक्-दर्शन (साक्षात्कार) के उचित होने पर वह निःसीम निजानन्द रूप में प्रतिभात होता और देहादि दृश्य निःशेष निरस्त हो जाते हैं।

प्रश्न—साक्षात्कृत आत्मा (मुमुक्षु के यथार्थ स्वरूप) का लक्षण क्या है? उत्तर—वह सर्वदृश्यरहित शुद्ध चैतन्यमात्र, केवल सुखस्वरूप है। उसमें दुःख का लेश भी नहीं हैं। दुःख मन का विकार, साभास वृत्ति है। मन आत्मा में नहीं है। जन्म-मरण आदि देह के परिणाम

भी आत्मा में नहीं हैं। आत्मा अशरीर है। समष्टि सूक्ष्म-शरीर (आतिवाहिक शरीर या हिरण्यगर्भभाव) या समष्टि कारण-शरीर (मायाविशिष्ट ईश्वरभाव या अक्षरपुरुष) प्रत्यक् परमात्मस्वरूप में कल्पित है। प्रत्यक्ब्रह्म स्फुरणमात्र है। अखण्डज्योतिःस्वरूप आत्मब्रह्म में देहादि भाव कुछ भी नहीं हैं। समस्त दृश्य अवास्तविक है। उसका दर्शन भी मिथ्या है। केवल दृश्यरहित दृङ्मात्र निज, नित्य निरतिशय आनन्दस्वरूप में स्वतः और सर्वदा प्रकाशमान रहता है।

प्रश्न—'मैं' इस प्रत्यक्स्वरूप में आत्मा का स्फुरण स्थूलशरीर का अवश्य अवगाहन करेगा? उत्तर – नहीं, देहाकारवृत्तिरहित निर्दृश्य द्रष्टा स्वयं सवदा भासमान रहता है। इस शुद्ध स्वयंज्योति सुखस्वरूप में जीवन्मुक्त स्थित रहता है। लीला (उत्पत्ति-प्रकरण) वीतहव्य(उपशमप्रकरण) और व्याधगुरु (निर्वाण-उत्तरार्ध) आदि जीवन्मुक्तगण अपने ज्ञानस्वरूप में देहादि कुछ भी न देखते थे। स्वप्न का शरीर जैसे मिथ्या है, वैसे ही जाग्रत्-शरीर भी मिथ्या है। विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वरभाव सम्यक्ज्ञात आत्मस्वरूप में नितान्त नहीं हैं। निरवच्छिन्न सुखस्वरूप आत्मा स्वयं और सर्वदा प्रकाशमान है। ज्ञानी पुरुष उसे ही 'मैं' कहकर सहजरूप से जानते हैं। उनकी दृष्टि में स्थूल, सूक्ष्मशरीर या जागतिक सभी प्रपञ्च मिथ्या हो जाते हैं,उनका स्मरण या कभी किसीरूप में राग या द्वेष उत्पन्न नहीं होते। ठीक इसी प्रकार जीवन्मुक्त अखिल प्रपञ्च को मिथ्या ही देखते हैं। जीवभाव विनिवृत हो जाने के कारण वे सर्वदा निर्भय और सुखी हैं।

प्रश्न – 'आत्मा अहंशब्द का लक्ष्यार्थ और शरीर, प्राण, मनोविशिष्ट नहीं हैं' इस सम्बन्ध में युक्ति और अनुभूति किस-किस शास्त्र में प्रदर्शित है? उत्तर 'योगवाशिष्ठ' और 'त्रिपुरारहस्य' विवेक विचार एवं उत्तम आत्मज्ञान के भण्डार हैं। चूडाला के उपाख्यान और उपशम प्रकरण के बलि-प्रह्लाद तथा सुरघु के वृत्तान्त में इस विषय का

स्पष्ट वर्णन है। मुमुक्षु के लिये वह अवश्य मनन और ग्रहण करने योग्य है। 'त्रिपुरारहस्य' के ज्ञानखण्ड (अध्याय १६, श्लोक १७-२४) में भी यह संक्षेप तथा सुन्दरता से प्रदर्शित है। उन आठ श्लोकों का मर्म इस प्रकार है—

आत्मा स्वप्रकाश होने से सर्वदा 'अहं' रूप में स्फुरित होता है। शरीर आदि वैसे नहीं है। जिस समय घटादि प्रकाशित होते हैं, उस समय शरीरादि अहंरूप में स्फुरित नहीं होते,क्योंकि घटज्ञान के समय गौर या उच्च शरीर का ज्ञान अनुभव सिद्ध नहीं है। घटविषयक ज्ञान में 'देह उच्च या गौरवर्ण है' ऐसा उल्लेख कोई नहीं करता। यह देह मेरी है, ऐसे अनुभव के समय देह में 'अहं' बुद्धि सम्भव नहीं है, क्योंकि देह तो 'मैं' नहीं हूँ, वह 'मेरी' है। सुतराम् देह अनात्मा (जो मैं नहीं हूँ) सिद्ध हुई। 'घटादि के अवभास-काल में शुद्ध आत्मा का अहंरूप में स्फुरण नहीं होता' यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा होने पर घटादि का प्रकाश कौन करेगा (उसे कौन जानेगा)? तुम तो कहते हो कि घटको 'मैंने' जाना।' तब तो प्रत्यक्ष अनुभव के बल पर 'अहं' रूप में आत्मस्फुरण स्वीकार करना ही पड़ेगा। यदि कहें कि 'आत्मा उस समय प्रकाशमान होने पर भी 'अहंरूप में स्फुरित नहीं होता,' तो वह भी ठीक नहीं। प्रकाशन किसी एक निर्दिष्ट रूप में ही होता है, अन्यथा दीप, स्फटिक आदि जड़ पदार्थों से चैतन्य में भेद ही क्या रहा? अतएव आत्मा अहंरूप में सदा प्रकाशमान है। अहं ही आत्मा का योग्यरूप है। इसीलिए 'मैंने घट जाना'इस प्रकार ज्ञाननिश्चय देखा जाता है। घटादिज्ञान में यदि 'मैं' रूप में आत्मा का स्फुरण न हो, तो 'मैं हूँ या नहीं हूँ' ऐसा संशय क्यों न होगा? यदि घटादिज्ञान में 'मैं' रूप में चिदात्मा का स्फुरण अङ्गीकार करके उसे देहादिविषयक कहें, तो वह भी ठीक नहीं। कारण 'यह मेरा शरीर है' इस प्रकार देहादिज्ञान के समय भी देह का कोई 'मैं' कहकर निर्देश नहीं करता। प्रदर्शित प्रकार से प्राण तथा मनके द्वारा अस्पृष्ट

शुद्ध आत्मसंवित् सर्वदा प्रत्यग्रूप में ('मैं' रूप में) भासमान होती है। (देखिये 'चित्त विश्रान्ति' और 'आत्मज्ञान की सरल प्रक्रिया')।

प्रश्न—वाशिष्ठोक्त स्वात्मानुभव की प्रक्रिया क्या हैं? उत्तर-जीव, ईश्वर और जगद्भावशून्य आत्मस्वरूप का अनुभव चूड़ाला को निम्न-लिखित विचार की सहायता से प्राप्त हुआ था। 'मैं कौन हूँ ?', 'यह ससार क्या है ?', यह कहाँ से आया ?' चूड़ाला इस प्रकार के विचार में प्रवृत्त हुई। उसने समझा कि मैं पञ्चतत्व का शरीर नहीं हूँ, क्योंकि वह जड़ और मैं चेतन हूँ। कर्मेन्द्रियाँ भी जड़ हैं, उनके व्यापार ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से सम्पन्न होते हैं। ज्ञानेन्दियाँ भी जड़ है, उनकी चेष्टाएँ मन की सहायता से होती है। मन भी जड़ है, उसकी सङ्कल्प विकल्परूप चेतनाएँ (वृत्तियाँ) बुद्धि की सहायता से सम्भव होती हैं। बुद्धि भी जड़ हैं, उसकी निश्चयरूप चेतना अहङ्कार की सहायता से होती है। अहङ्कार भी जड़ हैं, चैतन्य का प्रतिबिम्ब ही अहंरूप में स्फुरित होता है। शुद्ध सत्त्वप्रधान अज्ञान में चैतन्य का जो प्रतिबिम्ब (समष्टि जीव) है, वह भी मैं नहीं हूँ। मैं अक्षर पुरुष से भी श्रेष्ठ हूँ मैं रागद्वेषरहित, निर्मल चैतन्यमात्र हूँ—शान्त, अचल, अपरिणामी, अद्वैत परमात्मा हूँ। मुझमें मन, बुद्धि या दृश्य संसार वास्तव में कुछ भी नहीं हैं।

(२) भगवान् शुक्रप्रदत्त उपदेश का विचार बलि करने लगे — त्रिलोकी चिन्मात्र है, मैं भी चैतन्य हूँ, परमार्थ सत्स्वरूप चैतन्य से भिन्न कुछ भी नहीं हूँ। यह जो सूर्य है, वह चैतन्य द्वारा सूर्यरूप में चेतित (स्फुरित, भासमान) न हो, तो उसका सूर्यभाव भासमान नही होता। सब त्रिपुटियों का सत्तास्फुरण परमात्मचैतन्य के अधीन है, उससे अनुविद्ध है। दिशाएँ, आकाश, पर्वत या सारा जगत् - 'मैं यह जानता हूँ' इस प्रकार बुद्धिवृत्ति अथवा 'मैं यह नहीं जानता' इस प्रकार अविद्या वृत्ति की सहायता से जो स्फुरित(अनुभूत) होता है वह, अशेष

त्रिपुटीसाक्षीमें अध्यस्तरूप साक्षिचैतन्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है। उसकी अपनी सत्ता या स्फुरण कुछ भी नहीं है। आत्मसंवित् के सिवा अन्य किसी का भी अनुभव सम्भव नहीं है। इन्द्रिय और मन (भीतर-बाहर)सब चैतन्यमात्र हैं। चिदात्मा ही 'मैं' और'तुम' रूप में परिस्फुरित हो रहा है। मैं चैतन्य में इन्द्रियों की सहायता से सब विषयों का अनुभव करता हूँ। वास्तव में मैं प्रमाता,प्रमेय और प्रमिती इन तीनों का साक्षी हूँ,मेरे वास्तविक स्वरूप में('अहं' शब्द के लक्षित अर्थ में) प्रमातृभाव, प्रमा या प्रमेय किसी की भी पृथक् सत्ता नहीं है। ये सब मेरे प्रकाशस्वरूप में कल्पित हैं। अज्ञान या कल्पना भी कोई वस्तु नहीं है। एक आत्मा ही सकल कल्पित पदार्थों में व्याप्त है। यही सकल प्रपञ्च का एकमात्र सार है। द्वैत कुछ भी नहीं है, अतः शत्रु-मित्र आदि मिथ्या कल्पना है। सुख-दुःख भावनामात्र है, प्रकाशक आत्मा की किसी प्रकार की चित्तवृत्ति, उसके विषय दुःखादि उनका भोक्ता परिच्छिन्न जीव या अहंकार कुछ भी नहीं हो सकता। दृश्य वस्तु द्रष्टा में नहीं हैं। आन्तर आविद्यक समस्त दृश्य मेरे वास्तव स्वरूप में कल्पित हैं। प्रकाशस्वरूप मैं ही उनका सार हूँ। एकमात्र सत्यवस्तु, भाव-अभावरूप सकल चैतन्यरूप मैं ही हूँ। एक, परिपूर्ण चैतन्य से भिन्न कुछ भी नहीं है, जगत् या समस्त व्यवहार (दुःख शोक, मन, वृत्ति, विषय) एक, अखण्ड प्रकाशरूप आत्मा ही है। विकल्प और कल्पना कुछ भी नहीं है। वह आवरणरूप अविद्या का विलासमात्र है, वस्तुभूत नहीं है। मैं निराभास निरामय और निष्कलङ्क द्रष्टामात्र हूँ। मैं परमेश्वर, कर्ता या भोक्ता नहीं हूँ।

३) विष्णुपूजा और शास्त्रपाठ समाप्त करके प्रह्लाद विवेक विचार में प्रवृत्त हुये – मैं कौन हूँ? यह जो शरीरधारी जीव चलता-फिरता और बोलता है, वह तो मैं नहीं हूँ, क्योंकि थोड़े समय के लिए आविर्भूत हुआ है, अतः मिथ्या है। जड़ पवन की सहायता से यह क्रिया करता है। यह शरीर मैं नहीं हो सकता, वह जड़, क्षण-क्षण में

परिणाम को प्राप्त होने वाला और विनाशशील है। मैं चैतन्य, सरस और सनातन हूँ। इन्द्रिय भी मैं नहीं हूँ; चेतन मैं इष्ट अनिष्ट का अनुभव करता हूँ, जड़ इन्द्रियाँ कुछ जान नहीं सकतीं। वास्तविक मैं विकारशील अनुभवकर्ता (प्रमाता) भी नहीं हूँ। शुद्ध चैतन्यस्वरूप से मेरी च्युति होने (अध्यासवशात् अन्तःकरण के साथ मेरे मिल जाने) के कारण मैं प्रतिबिम्बरूप प्रमाता दिखलाई पड़ता और मिथ्या ही विषयों की उपलब्धि कर रहा हूँ। इन्द्रिय, विषय, प्रमा, प्रमाता समस्त दृश्य चैतन्यस्वरूप मुझमें कल्पित (अज्ञान में विलसित) और मेरे स्वरूप प्रकाश में प्रकाशित होते हैं। अहम्भाव, मननादि मुझमें कुछ भी नहीं हैं। मैं सर्वदा शांत, शुद्ध चैतन्यरूप हूँ। मुझमें चित्त नही है, मैं निष्कलङ्क चैतन्यमात्र हूँ, भीतर-बाहर व्यापक, निर्मल सर्वप्रकाशक और निःसङ्कल्प स्थित हूँ। मेरी अपनी सत्ता-स्फूर्ति के बल पर समस्त जगत (चेत्य, चित्त और चिन्तन) सत्ता एवं प्रकाश प्राप्त करता है। आत्म चैतन्य में समस्त प्रपञ्च कल्पित है। निर्विकल्प चैतन्य मैं सबका आश्रय भूत हूँ। मुझमें अध्यस्त होकर सब पदार्थ अपने स्वरूप (सत्ता स्फूर्ति को) प्राप्त होते हैं। मुझमें आरोप्रित या मेरे प्रकाश के अन्तर्भूत हुये बिना सत्य वस्तु भी असत्य हो जाती है। मैं ही सत्स्वरूप (परमार्थिक सत्य वस्तु) हूँ। चिद्दर्पणरूप मुझमें सब बिम्ब प्रतिबिम्ब होते हैं। दृढ़ वासना ही विश्व का स्वरूप है। स्थावर जङ्गम, समस्त भूतों का एकमात्र सार मैं ही हूँ। जीव मिथ्या पदार्थों की इच्छा कर वृथा ही दुःख भोगता है। विषय-भावना का परित्याग कर देने पर निरतिशय आत्मानन्द प्राप्त होता है।

(४) प्रजाशासन और दण्ड विधान से राजा सुरधु के मन में दुःख और दया उत्पन्न हुई। गृहागत माण्डव्य मुनि से उन्होंने प्रश्न किया– 'चित्त का समभाव (सामरस्य) किस प्रकार प्राप्त होगा?' मुनि ने सुरघु को उपदेश किया कि विचार की सहायता से मन नष्ट हो जाता है। और सहज में ही समता सुख प्राप्त होता है। मैं कौन हूँ, इन्द्रियाँ

क्या हैं, जगत् क्या है, जन्म-मरण किसे कहते हैं, इस प्रकार तत्त्वानुसन्धानपूर्वक परम सत्य वस्तुका अनुभव 'विचार' कहा जाता है। विचारद्वारा अपने यथार्थ स्वरूप में स्थित होने पर हर्ष, शोक, क्रोध राग आदि सभी मनोविकार और सन्ताप निवृत्त हो जाते हैं। जैसे वायु पर्वत को विचलित नहीं कर सकती, वैसे ही विचारशील पुरुष का चित्त सर्वदा अचल (विक्रियाशून्य) हो जाता है। आत्मबोध प्राप्त होनेपर मनकी सारी चञ्चलता नष्ट हो जाती है और ज्ञानीजन निज अखण्ड आनन्दस्वरूप में सम्यक् स्थित होते है। अनात्म पदार्थो के सम्यक् निषेधपूर्वक वासना का लय हो जाने पर आवरक अज्ञान नष्ट हो जाता और साम्यसुख का अनुभव होता है। मन सन्तापरहित एवं शीतल हो जाता है। सब अनात्मभाव (दृश्य त्रिपुटी) का परित्याग करने पर प्रत्यक्स्वरूप चिदात्मा ही अवशिष्ट रहता है। जबतक आत्मसाक्षात्कार न हो जाय, तबतक अनन्यभाव से निरन्तर आत्मविचार अवश्य कर्त्तव्य है। सकल दृश्यों का परित्याग किये बिना आत्मपद प्राप्त नहीं होता। दृश्य का सम्यक् त्याग हीने पर प्रत्यक्सुखस्वरूप अधिष्ठान परमात्मा हृदय में प्रकाशित हो जाता है।'

यह उपदेश सुनकर राजा सुरघु आत्मविचार में प्रवृत्त हुए मैं कौन हूँ मैं सुमेरुपर्वत नहीं और न वह पर्वत ही मेरा है। जगत् पृथिवि आदि सब अपने-अपने स्वरूप में सर्वदा अवस्थित हैं वे सब कोई भी मेरे नहीं हैं और न मैं ही उनका हूँ। मेरे न रहने पर भी वे रहते हैं, तो मेरे किस तरह हो सकते हैं या मैं उनका कैसे हो सकता हूँ? नगर, हाथी, घोड़ा, मन्दिर, धन, स्त्री, पुत्रादि न मेरे हैं और न मैं ही उनका हूँ। अतः इन सब पदार्थों में आसक्त होना वृथा है। इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। भृत्य, कलत्र मेरे न रहने पर भी रहेंगे। न मैं राजा हूँ और न राज्य ही मेरा है। हस्तपादादियुक्त शरीर भी मैं नहीं हूँ। शरीर में मेरा कहने योग्य कुछ भी नहीं है। रक्त, मांस, अस्थि आदि जड़ है, तो मैं हूँ चेतन, उनके साथ मेरा कोई सम्बध हो

नहीं सकता। कर्मेन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ और न कर्मेन्द्रियाँ ही मेरी हैं। वे सब जड़ हैं और मैं चैतन्य। ज्ञानेन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ और न ज्ञानेन्द्रियाँ ही मेरी हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार भी मैं नहीं हूँ, ये सब अनात्मा हैं। अविद्या के कारण इनसे मेरा सम्बन्ध प्रतीत होता है, भ्रमवश मैं इन्हें निजरूप समझ रहा हूँ। ये पञ्चभूतों के सात्त्विक परिणाममात्र हैं। शरीर, मन बुद्धि, इन्द्रियादि से अतीत जो प्रमातृ-चैतन्य विषयचिन्तन करता है, वह भी मैं नहीं हूँ क्योंकि 'मैं यह जानता हूँ' इस प्रकार त्रिपुटीसाक्षी मेरे द्वारा वह प्रमाता अनुभूत होता है। अतएव वह परिच्छिन्न, अन्तःकरणविशिष्ट प्रतिबिम्ब (आभास) चैतन्य मेरा तात्त्विक स्वरूप नहीं हो सकता। इस प्रकार मैं यथोक्त युक्ति की सहायता से साक्षिवेद्य(मेरे द्वारा ज्ञात या अप्रकाशित) प्रमिति और प्रमेय का परित्याग करता हूँ। समस्त चेत्य का परित्याग करने पर शुद्ध साक्षी मैं अपने यथार्थ स्वरूप में प्रतिष्ठित होता हूँ। समस्त दृश्यों का त्याग करने पर विकल्परहित परिशिष्ट, विशुद्ध चैतन्य ही प्रत्यग्रूप में अनुभूत होता है।

प्रश्न – चूडाला, बलि, प्रह्लाद और सुरघु के विचारों का संक्षेप में निर्देश कीजिये। उत्तर-चूडाला ने विचार किया कि चेत्य चेतन, चित्त आदि सकल त्रिपुटीजाल मुझ साक्षिचैतन्य से सिद्ध होता है, प्रमाण के बल पर नहीं। अतः त्रिपुटी की उत्पत्ति के पहले भी यह प्रत्यक्चैतन्य स्वकीय महिमा में सिद्ध (सर्वदा स्वयं अनुभूयमान) है। चेत्य, चिन्तक और चिन्तन का परित्याग कर (अपना ध्यातृभाव और ध्यान छोड़ कर) बलि ध्येयस्वरूप में निर्विकल्प स्थित (समाहित) हो गये। उनकी अनात्मवासना विगलित हो गई। उन्होंने निर्मल ब्रह्मभाव प्राप्त कर लिया। प्रह्लाद ने भी अनात्मवर्ग का निरसनकर अपने आपका अद्वय चिदानन्दरूप में अनुभव किया। सुरघु ने बाह्य एवं आन्तर सकल दृश्यों का सम्यक् परित्याग कर विचार की सहायता से स्वात्मलाभ कर लिया।

प्रश्न—दृश्यजाल चेत्य या अनात्मवर्ग किसे कहते है? उत्तर—मूलाज्ञान (माया) से से लेकर देह और जगत्पर्यन्त पदार्थ या समष्टि-व्यष्टि पञ्चकोश (समष्टि और व्यष्टि स्थूल,सूक्ष्म तथा कारणशरीर) दृश्य कहा जाता है। देह और स्थूल पदार्थ बाह्यदृश्य है और अहं काम, क्रोध, सुख, दुःख अदि साभास अन्तःकरण या अविद्या की वृत्तियाँ आन्तरदृश्य है। अज्ञान और माया कारणरूप होने से अधिकतर सूक्ष्म, आन्तर दृश्य है। सभी दृश्य साक्षात् या प्रमाण की सहायता से ज्ञात या अज्ञात रूप में प्रकाशित होते है।

प्रश्न–अध्यास क्या वस्तु है? उत्तर-चित् का चेत्य के साथ मिलन या सम्बन्ध का नाम 'अध्यास' (भ्रान्तिज्ञान या विपरीत निश्चय) है। अज्ञान या अविद्या के साथ तादात्म्याध्यास के बाद अहंकार,मन,बुद्धि प्राण, इन्द्रिय और शरीर के साथ अध्यास(ऐक्यभ्रम)होता है। शरीर में अहम्बुद्धिपूर्वक बाह्य विषयों में ममत्वभ्रम होता है। इसलिये वित्त, क्षेत्र की अपेक्षा पुत्र, कलत्र अधिक निकटवर्ती (प्रिय) होते हैं। पुत्रकी अपेक्षा अपना शरीर अधिकतर प्रिय हैं, शरीर की अपेक्षा इन्द्रियाँ, इन्द्रियों की अपेक्षा प्राण, प्राण की अपेक्षा मन, मन की अपेक्षा बुद्धि और बुद्धि की अपेक्षा अहङ्कार अधिकतर प्रिय होता है तथा अहङ्कार की अपेक्षा साक्षी आत्मा प्रियतम होता है (शिखीध्वज तथा कचका उपाख्यान देखिये)। सब बाह्य पदार्थों का सार स्थूलशरीर है, शरीर का सार प्राण, प्राण का सार मन, मन का सार बुद्धि, बुद्धि का सार अहङ्कार और अहङ्कार का सार प्रकाशात्मा है। परमार्थचैतन्य के सिवा जीव के भीतर और कुछ नहीं है। इस प्रकार विशुद्ध चैतन्य में देहादि चेत्य पदार्थों का सम्बन्ध ही बन्धन या कृत्रिम मलयुक्त जीव-भाव है और चेत्यपरित्याग ही मुक्ति है-यह पहले श्लोक में दिखलाया गया है।

सर्वमेव चिदाकाशं ब्रह्मेति घननिश्चये।
स्थिति याते शमं याति जीवो निःस्नेहदीपवत् ॥ २ ॥

'दृश्यमान सकल प्रपञ्च शुद्ध, असङ्ग, अपरिछिन्न चैतन्यमात्र है' मुमुक्षु को ऐसा निश्चय दृढ़ हो जाने पर तैलरहित दीपक के समान जीवभाव विनष्ट हो जाता है। जिस प्रकार तैलशून्य प्रदीप दीपभाव का परित्याग कर महातेजरूप कारण में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार उत्तम मुमुक्षु जीवभाव त्यागकर शिवस्वरूप में लीन हो जाता है। इसका उत्तम उपाय प्रथम श्लोक में बतलाया जा चुका है।

स्वमहत्त्वं यथोपेक्ष्य कश्चिद्विप्रो दुरीहया।
अङ्गीकरोति शूद्रत्वं तथा जीवत्वमीश्वरः ॥ ३ ॥

जैसे कोई ब्राह्मण अपनी वर्णीय श्रेष्ठता की उपेक्षा कर नीच-सेवा आदि निन्द्य कर्मों के फलस्वरूप शूद्रभाव को प्राप्त होता है, वैसे ही आत्मा ईश्वर (अनन्त ब्रह्म) होता हुआ भी अज्ञान के योग से जीव-भाव को प्राप्त होता है। सारे दृश्यों का समूल परित्याग करने पर जीव पुनः शिव हो जाता है। प्रथम श्लोक में इसकी प्रक्रिया प्रदर्शित की गयी है। (यहाँ 'सर्वत्याग' और 'सृष्टिसमीक्षा' द्रष्टव्य है)।

असत्यमेव सङ्कल्प्य भ्रमेनेदं शरीरकम्।
जीवः पश्यति मूढात्मा बालो यक्षमिवोत्थितम् ॥ ४ ॥

यहाँ सङ्कल्पभ्रमेनेदम् ऐसा पाठान्तर है। जैसे कोई बालक मिथ्या ही कल्पित पिशाच का दर्शनकर भयभीत हो जाता है, वैसे ही जीव सङ्कल्प द्वारा दृढ़ वासना के फलस्वरूप असत्य ही इस शरीर को अपना स्वरूप समझ रहा है। अनात्मभूत दृश्य द्रष्टा आत्मा का यथार्थस्वरूप नहीं हो सकता।

मृत्सेभके यथेभत्वं शिशुरध्यस्य वल्गति।
अध्यस्याऽऽत्मनि देहादीन मूढस्तद्वद्विचेष्टते ॥ ५ ॥

जैसे बालक मिट्टी के हाथी को वास्तविक हाथी समझता और

तदनुसार व्यवहार करता है, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य अपने आत्मस्वरूप में देह, प्राण, मन, आदि की कल्पना कर व्यवहार करता है। इस आरोप या अध्यास के विषय में पीछे (प्रथम श्लोक के अन्त में) कहा ही जा चुका हैं।

चित्रसर्पः परिज्ञातो न सर्पभयदो यथा।
जीवसर्पः परिज्ञातस्तथा दुःखे न दुःखदः ॥ ६ ॥

यहाँ 'तथा चान्तेन दुःखदः' ऐसा पाठान्तर दिखाई पड़ता है। अर्थात् जैसे चित्र में अङ्कित सर्प भय का कारण नहीं होता, वैसे ही जीव अपनेको ब्रह्मरूप जानकर निर्भय हो जाता (८ वें प्रकरण का १० वाँ श्लोक देखिये)।

स्रजि सर्पोऽयमध्यस्तो मालायामेव लीयते।
आत्मनि प्रोत्थितो भेद आत्मन्येव विलीयते ॥ ७ ॥

जैसे माला में भ्रमसे दिखाई पड़ने वाला सर्प 'यह माला है, सर्प नहीं' ऐसा जान लेने पर माला में लीन हो जाता है, वैसे ही साक्षी आत्मा में अध्यारोपित दृश्य विशुद्ध प्रत्यक्स्वरूप का साक्षात्कार होने पर अधिष्ठान में विलीन हो जाता है। 'सम्पूर्ण दृश्य प्रातिभासिक एवं मिथ्या है' इस प्रकार निश्चयपूर्वक नित्य-निरन्तर उसका निरसन करना चाहिए। तभी हृदय में अखिल दृश्य के अस्फुरण (वृत्तिनिरोध या योग)-पूर्वक विशुद्ध द्रष्टा सम्यक् प्रकाशित होता है। यह 'प्रत्यक्ष ज्ञान' या 'साक्षात्कार' कहा जाता है। फलतः समस्त दृश्य का अत्यन्त अभाव सहज में सिद्ध होता है। यही 'अद्वैतसिद्धि, एक-समाधि, सहज (तुरीय) अवस्था या जीवन्मुक्ति' है। इसके बाद मनुष्य का और कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। मनुष्य वस्तुतः परमेश्वर होता हुआ भी भ्रम से अपने को परिच्छिन्न, विकारशील, शरीरधारी जीव समझ रहा है। अतः कल्पनानिरसनपूर्वक सर्वदा परमार्थस्वरूप की भावना

करना उसका एकमात्र कर्तव्य है। विचारहीन मनुष्य जीवन्मृत है। दृक्-दृश्य का विवेक और आत्मस्वरूप का विचार करने पर आवरण (अज्ञान) निवृत्त होता है और मुमुक्षु निज सनातन शिवात्मभाव को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। (प्रथम श्लोक में उक्त सुरघु का विचार देखिये)।

नैकमप्यङ्गदाद्यञ्च यथैकं हेम संस्थितम्।
उपाधिभिरनेकोऽपि तथाऽऽत्मैकः स्वरूपतः ॥ ८ ॥

जिस प्रकार अङ्गद, कुण्डल, कङ्कण आदि अनेक अलङ्कारों में अनुगत (सम्बन्ध सुवर्ण एक ही है, उसी प्रकार उपाधिद्वारा जीव, ईश्वर, जगत् आदि अनेक रूपों में प्रतीत होने पर भी आत्मब्रह्म एक ही है। अज्ञानयुक्त होकर आत्मा ही ईश्वर जीव और जगत् बना हुआ है। इसे 'एकजीववाद' कहते हैं। सौषुप्त आनन्दमय का अज्ञान से अध्यास नहीं रहता। अतः थोड़े से विचार की सहायता से सौषुप्त आनन्दमय (वही मुमुक्षु एक जीव) अज्ञानविनिर्मुक्त तुरीय आनन्द ब्रह्म हो जाता है। ('आनन्दतत्त्वमीमांसा' निबन्ध देखिये)।

शरीरेऽवयवा यद्वद्विकाराश्च यथा मृदः।
अद्वैतं द्वैतवद्भाति तथा स्थावरजङ्गमम् ॥ ९ ॥

जिस प्रकार शरीर में हस्त-पादादि अनेक अवयव हैं या मृत्तिका में घट, शराव आदि अनेक विकार दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार एक अद्वितीय ब्रह्म ही स्थावर-जङ्गम (वृक्ष, मनुष्य) नानारूपों में भासित होता है। अवयवी से अवयव भिन्न नहीं हैं। मृत्तिका सत्य और विकार मिथ्या है। द्वैतप्रपञ्च मिथ्या और चेतन अधिष्ठान सत्य है।

मणितोयघृतादर्शेष्वेकमप्यानतं यथा।
भात्यनेकमिवाऽऽत्माऽपि तथा धीष्वनुबिम्बितः ॥१०॥

जैसे एक ही मुख मणि, जल, घृत और दर्पण में अनेक रूपों में

प्रतिबिम्बि होने पर भी वास्तव में अनेक नहीं है, वैसे ही एक ही आत्मा नाना बुद्धियों में प्रतिफलित होकर अनेक रूपों में प्रतीत होने पर भी एक और अद्वितीय है। प्रतिबिम्ब मिथ्या और बिम्ब सत्य हुआ करता है। त्रिपुटी चिदाभास दृश्य होने के कारण मिथ्या है। दृङ्मात्र (प्रकाशरूप प्रत्यगात्मा) सत्य है। हस्तमालक ने भी कहा है- 'यथा सूर्य एकोऽप्स्वनेकश्चलासु स्थिरास्वप्यनन्यद्विभाव्यस्वरूपः। चलासु प्रभिन्नासु धीष्वेक एवं स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥' अर्थात् स्थिर तथा चञ्चल जल में प्रतिबिम्बित सूर्य भिन्नवत् प्रतीत होता हुआ भी जैसे एक और अनन्यरूप ही गृहीत होता है, वैसे ही सात्त्विक, राजस, तामस या स्थिर और चञ्चल भिन्न-भिन्न बुद्धियों में नानारूपों में जो आत्माभासित होता है, वही उपलब्धिस्वरूप नित्य अद्वैत आत्मा ही 'मैं' हूँ। उपलब्धा, उपलभ्य (ज्ञेय) और उपलम्भ (ज्ञान रूप त्रिपुटी का प्रकाशक जिसमें कि उक्त त्रिपुटी लीन हो जाती है—वही बिम्बभूत तुरीय प्रत्यक् संवित् 'मैं' हूँ—यह ज्ञानियों का सहज सिद्ध अनुभव है।

धूलिधूमाम्बुदैर्यद्वन्मलिनीक्रियते नभः।
परामृष्टस्तथैवाऽऽत्मा विशुद्धः प्राकृतैर्गुणैः॥११॥

जैसे निर्मल आकाश धूलि, धूम या मेघद्वारा मलिनता को प्राप्त होता है, वैसे ही आत्मा विशुद्ध होने पर प्रकृतिजात सत्त्व, रज और तमोगुणों के संस्पर्श से मलयुक्त प्रतीत होता है। उपाधि का धर्म उपहित में वस्तुतः प्रवेश नहीं कर सकता। फिर अन्तःकरण या अविद्या से उपहित प्रत्यगात्मा को प्राकृत गुण कैसे स्पर्श कर सकते हैं? इसीलिए "विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनी। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः" होते हैं। फिर प्रकृति उसके सभी गुण और कार्य (अन्तःकरण) अनात्मा एवं दृश्य होने के कारण मिथ्या हैं। अतः मिथ्या पदार्थ से परमार्थवस्तु आत्मा परिछिन्न, मलिन या आवृत्त कैसे हो सकता है? आत्मा में किसी प्रकार का परिच्छेद हो नहीं सकता,

वह स्वतः और सर्वदा अपरिच्छिन्न एवं अनन्त है। आत्मा भूमा है, ब्रह्म है। जीव ही निर्मल शिव है। सौषुप्त आनन्दमय ही तुरीय, अनावृत्त परमात्मा है। साक्षात्कारप्राप्त पुरुष का यही सहज अनुभव है। ज्ञानी की दृष्टि में इन्द्रियादि बाह्यकरण और मन, बुद्धिरूप अन्तःकरण सब कुछ आत्मा ही है। जब तक आत्मा का अनुभव (साक्षात्कार) नहीं होता, तबतक भिन्नवत प्रतीत होने पर भी वे आत्मचैतन्य से अनुविद्ध हैं। इसीलिये प्रत्याहार एकाग्रबुद्धि आत्मदर्शन के साधन है।

अग्निसङ्गाद्यथा लोहमग्नित्वमुपगच्छति ।
आत्मसंगात्तथा गच्छत्यात्मतामिन्द्रियादिकम् ॥१२॥

जैसे लोहा अग्निसंस्पर्श से अग्निभाव को प्राप्त होता है, वैसे ही इन्द्रिय, मन और बुद्धि आत्मा के संसर्ग से आत्मा ही हो जाते है। ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में सब आत्मा ही है। वे सर्वत्र एक और सम ब्रह्मको ही देखते है।

अदृश्यो दृश्यते राहुर्गृहीतेन यथेन्दुना ।
तथाऽनुभवमात्रात्मा दृश्येनाऽऽत्माऽवलोक्यते ॥१३॥

जैसे राहु अदृश्य होने पर भी चन्द्रमा को ग्रहण करने से दृष्टिगोचर होता है वैसे ही अनुभवमात्ररूप होनेपर भी आत्मा साभास ब्रह्माकार-वृत्ति की सहायता से ज्ञात होता है। ज्ञानी की दृष्टि में साक्षात्कृत आत्मा स्वप्रकाश और निरावरण होने पर भी अज्ञानी की दृष्टि में वह आवृत होता है। मुमुक्षु की दृष्टि में भी आत्मा भासित नहीं होता। अखण्डाकार ज्ञान(साभास ब्रह्माकारवृत्ति)का उदय होने पर अभानापादक आवरण निवृत्तहो जाता है और साक्षात्कार के फलस्वरूप अभानावरण का अभिभव होनेपर आत्मा स्वयं और सकृत प्रकाशित हो जाता है। आवरणभङ्ग के लिए ही वृत्तिव्याप्ति अपेक्षित होती है, निरावरण

प्रत्यगात्मा स्वयं प्रकाशित होता है, चिदाभास फल-चैतन्य की सहायता से प्रकाशित नहीं होता। अतएव निरावरण आत्मा में फलव्याप्ति का निषेध किया गया है, क्योंकि अज्ञान-निवृत्ति के साथ-साथ उसका कार्य अन्तःकरण भी बाधित हो जाता और प्रतिबिम्ब चैतन्य बिम्ब-चैतन्य से मिल जाता है। आवरण-अभिनव का नाम 'ज्ञान' है। यह योगकी सहायता से होता है। किसी परिच्छिन्न विषय के आकार में आकारित न होते हुए चित्त की जो अवस्थिति है, वही 'योग' है-समस्त अनात्माकार वृत्तियों का निरोध या चित्त की परिणामशून्य स्थिति है। ज्ञान या साक्षात्कार मुक्ति या सकल अनर्थों की सम्यक् निवृत्ति का एकमात्र हेतु है (देखिये 'साधनरहस्य')। साधन के बिना साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। अतएव साक्षात् मोक्षसाधन ज्ञान का सम्पादन मुमुक्षु का परम कर्त्तव्य है। विवेक एवं विचार के फलस्वरूप आत्मज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान प्रत्यग्रूप में परिज्ञात आत्मा का उपलक्षणमात्र है। साक्षात्कार के बाद आत्मा की वेद्यता भी निवृत्त हो जाती है। इस परब्रह्म का निरूपण दसवें प्रकरण में किया जायेगा।

आत्मनो जडसङ्गात् स्यादनात्मत्वं जडस्य तु।
स्यादात्मसङ्गादात्मत्वं जलाग्न्योः सङ्गवन्मिथः॥१४॥

जड़ शरीरादि के साथ सम्पर्क होने से आत्मा को अनात्मभाव (देहादिरूपत्व) प्राप्त होता है और जड़ शरीरादि आत्मा के साथ मिलित (एकीभूत) होने से आत्मभाव (सत्यता सरसतायुक्त अहम्भाव) को प्राप्त होते हैं। यह 'परस्पराध्यास' कहा जाता है। इस विषय में दृष्टान्त यह है कि जल और अग्नि के परस्पर संसर्ग से अग्नि जल-भाव (द्रवस्वभाव) को प्राप्त होता है और जल अग्नि के समान उष्ण हो जाता है। इसलिए शरीर चेतन एवं 'अहं' शब्द के अर्थरूप में भ्रम से गृहित होता और आत्मा सुखी, दुःखी, क्षुधा-पिपासायुक्त और विकारशील प्रतीत होता है। विवेक द्वारा यह निरूपित होता है कि

विकार शरीर के क्षुधा-पिपासा प्राण के, सुख-दुःख मन के और अबाधित सत्ता, अनावृत्त प्रकाश और निरवधि सुख आत्मा के धर्म हैं। विचाररूप अभ्यास की सहायता से अनात्मा में (देह, प्राण, मन और बुद्धि में) अनास्था एवं निज आत्मस्वरूप में परमप्रीति दृढ़ होती है। इससे आत्मवासना का प्रचय होता है। सजातीय संस्कार की वृद्धि और विजातीय वासना का क्षय समाधि के अभ्याससे सिद्ध होता है। अध्यात्मविचार का परिणाम ही समाधि है। परिपक्व (निर्विकल्प) समाधि वृत्तिनिरोध द्वारा साक्षात्कार का हेतु होती है। चित्त की अन्तिम अखण्ड स्थिति परिपक्व निर्विकल्प समाधि है। उसमें अज्ञान (आवरण) नष्ट हो जाता है और आत्मा सम्यक् निरावरण भासमान होता है। फिर मुक्त पुरुष, देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और अहङ्कार के साथ कभी मिलित नहीं होते। वे अनायास ही अपने शुद्ध बुद्ध, मुक्त महानन्दस्वरूप में सर्वदा स्थित रहते हैं।

असत्यजडचित्तांशनयनाच्चिद्वपुर्जनुः ।
महाजलगतो ह्यग्निरिव रूपं स्वमुज्झति ॥१५॥

जैसे बहुत अधिक जल में प्राप्त अग्नि स्वभाविक उष्णता का परित्याग करता है। वैसे ही असत्य, जड़ चित्तरूप अंश की चिद्रूप में भावना करने पर संवित्स्वरूप आत्मा (जीव) जन्म, वृद्धि, विनाश आदि सकल विकारों का परित्याग करता और मुमुक्षु मुक्त हो जाता है (इस सम्बन्ध में 'साधनरहस्य' निबन्ध में लघुवाक्यवृत्ति की विशद व्याख्या मुमुक्षुओं के लिए अवश्य विचारणीय है।

जबतक अन्तकरण बहिर्मुख रहता है—धन, जन, मान आदि अनात्मविषयों का चिन्तन करता है, तबतक ईश्वर अन्तर्हित रहता है। इसीलिए इस समय भौतिकवाद का अत्यधिक प्रचार एवं प्रभाव दिखाई पड़ता है और ईश्वरवाद लुप्तप्राय हो रहा है। गीतोक्त निष्काम कर्म एवं भक्ति का अवलम्बन करने पर चित्त परमेश्वर में

निविष्ट होता है—विषयेच्छा के साथ परिच्छिन्न कर्तृत्वभाव शिथिल होता जाता है । जिस प्रकार विषय व्यापृति ईश्वर को आच्छादित करती है, उसी प्रकार परमेश्वरभक्ति संसार की असारता सिद्ध करती है । 'ईश्वर नहीं है', 'ईश्वर भासित नहीं होता' इन दो आवरणों के स्थान में ईश्वर में दृढ़निष्ठा और घट-घट में सत्, चित्,सुखरूप ईश्वर का परमप्रकाश अनुभूत होता है (देखिये 'भगवत्पूजन' निबन्ध) । फलस्वरूप भक्तजन कभी धन-धान्य का चिन्तन नहीं करते । सगुण या निर्गुण ईश्वर ही भक्त के हृदय में व्याप्त होकर विद्यमान रहता है । भक्त का हृदय छोड़कर भगवान् एक मुहूर्त के लिए भी बाहर नहीं हो सकते । निज अन्तरात्मा ही भगवान् हैं । शुद्ध सात्त्विक अन्तःकरण में भोगवासना या भेदवासना स्वभावतः शिथिल हो जाने से परमेश्वर प्रत्यग्रूप में ही अनुभूत होते हैं(गीता १२वाँ अध्याय श्लोक १३से२०तक देखिये) । वासनारहित मुमुक्षु का चित्त मनन और ध्यान के फल-स्वरूप चिद्रूप में ही आकारित होकर दृढ़ अभ्यास द्वारा अचलरूप से ब्रह्माकार में अखण्ड आकारित हो जाता है । प्रत्यक् परमात्मा का सम्यक् दर्शन होने पर जीव मुक्त हो जाता है ।

सारांश, चिन्मात्रवासना का अत्यधिक प्रचय होने पर अनात्म-वासना निःशेष विनष्ट हो जाती है । गीता आदि अध्यात्मशास्त्रों में इसके क्रमिक उपायों के रूप में निष्काम कर्म, भक्ति तथा विचार का उपदेश किया गया है । ये मुक्ति के वेदोक्त सुगम एवं सनातन साधन है ।

पीछे के १३ वें श्लोक में उक्त आत्मदर्शन के विषय में प्रबल प्रयत्न की आवश्यता दिखलाते हुए कहते हैं –

इक्षौ गुडस्तिले तैलं काष्ठे वन्हिर्दृषद्यथः ।
धेनावाज्यं वपुष्यात्मा लभ्यते चैव यत्नतः ॥१६॥

जैसे इक्षु में विद्यमान गुड़ यत्न की सहयाता से प्राप्त होता है,तिल में वर्तमान तैल यत्न द्वारा ही प्राप्त होता है, काष्ठ के घर्षण से अग्नि

प्राप्त होती है, पाषाण से दाह आदि यत्नों द्वारा लौह प्राप्त होता है, गौ से दोहन, मन्थन आदि द्वारा घृत प्राप्त होता है, ठीक वैसे ही इस शरीर में विद्यमान चिदात्मा भी श्रवण, मनन, ध्यान आदि की सहायता से प्राप्त होता है। साध्यसिद्धि साधन के बिना सम्भव नहीं है। मैं अपना स्वरूप यथार्थतया नहीं जानता' 'मुझे परममुख प्राप्त नहीं हुआ' जब तक ऐसा निश्चय विद्यमान है, तबतक साधन नितान्त अपेक्षित है। प्रत्येक मुमुक्षु को मुक्तिसाधक ज्ञान का अवलम्बन अवश्य करना ही चाहिए। संसार की निवृत्ति आत्मज्ञान के बिना कदापि सम्भव नहीं है। साक्षात्कार ही ज्ञान है। सब अनात्मवृत्तियों के विरूद्ध होने पर अखण्ड अन्तःकरण में प्रत्यगात्मा स्वयं भासित होता है। फलस्वरूप मूलाज्ञान तथा उसका कार्य संसार बाधित होता एवं जीव सब सन्तापों से रहित और परममुखी हो जाता है।

स्फटिकात्मनि नीरन्ध्रेस्थितं खं वीक्ष्यते यथा।
तथा सर्वप्रदार्थेषु चिद्रूपः परमेश्वरः ॥१७॥

जिस प्रकार स्फटिक के छिद्ररहित (निबिड़) होने पर भी उसमें स्थित आकाश दृष्टिगोचर होता है। उसी प्रकार सब पदार्थों में चिद्रूप परमात्मा अनुभूत होता है। जिन्हें आत्मसाक्षात्कार प्राप्त हुआ है, वे सर्वत्र अस्ति, भाति, प्रियरूप में विद्यमान एक परमात्मा का ही दर्शन करते हैं। ब्रह्मदर्शन ही परमपूजा है ('भगवत्पूजन' निबन्ध देखिये)। स्फटिक में स्थित आकाश छिद्रद्वारा स्फटिक में प्रवेश नहीं करता, किन्तु उसमें प्रतिबिम्बित होता है। इस प्रकार किसी भी पदार्थ के आधार पर आत्मा स्थित न होने पर भी सकल पदार्थों के एकमात्र साररूप में सत्चित्-आनन्द परमात्मा ही विद्यमान रहता है। 'न चाहं तेष्ववस्थितः", "न च मत्स्थानि भूतानि" "तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानि" आदि गीता वचन इस विषय में प्रमाण हैं।

बहिरन्तः स्फुरज्ज्योती रत्नं कुम्भप्रदीपवत् ।
स्वप्रकाशाद्यथैवैकं स्वरूपमात्मनस्तथा ॥१८॥

ज्योति बाहर (रत्न में) या भीतर (कुम्भमध्यस्थ दीपक में) स्फुरित होने पर भी जैसे एक ही प्रकाशशील पदार्थ है-क्योंकि वह स्वयं ही आलोकमय है—वैसे ही चिदात्मा का स्वरूप बाहर और भीतर (अन्तःकरण तथा विषयों में) विविध रूपों से भासमान होने पर भी एक एवं अद्वितीय है। मायिक नाना पदार्थों में प्रतिबिम्बित (अध्यस्त) प्रपञ्च की सत्ता एवं स्फूर्ति का एकमात्र हेतु, अखिल कल्पित विषयों का अधिष्ठान स्वप्रकाश परमात्मा एक ही है। उपहित (उपाधिद्वारा लक्षित) किसी वस्तु में उपाधि के गुण या धर्म प्रवेश नहीं करते। वेदान्तसिद्धान्तानुसार सब उपाधियाँ कल्पित (मिथ्या) हैं। सुतराम् उपलक्षित आत्मा एक एवं अद्वितीय है। उपाधियाँ नाना होने पर भी आत्मा अविभक्त रहता है। आत्मा आकाश के समान असङ्ग और वायु के समान अस्पर्श है। वह सकल द्वैत पदार्थों के बाध (त्रैकालिक अभावनिश्चय) की अनुभवसिद्धि अवधि है, क्योंकि समस्त कार्य-प्रपञ्च निषेध का वह स्वप्रकाश अधिष्ठान है।

दर्पणे बिम्बितो ह्यर्कः प्रकाशं कुरुते यथा ।
तथा प्रजाशयत्यात्मा स्वच्छधीष्वनुबिम्बितः ॥१९॥

जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित सूर्य भित्ति आदि अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार निर्मल चित्त में प्रतिफलित साक्षी आत्मा (प्रमाता, प्रमेय विषयों को प्रकाशित करता है। प्रत्यगात्मा स्वप्रकाश है, अर्थात् स्वयं प्रकाशमान रहकर अपने में अध्यस्त द्रष्टा, दृश्यत्रिपुटी जगत् को भी प्रकाशित करता है। भीतर और बाहर भासमान दृश्य समूह वासना का विलासमात्र है। दृढ़वासना के फलस्वरूप ही जीव अहं तथा इदरूप समस्त दृश्यप्रपञ्च का अनुभव करता है। साक्षीरूप में प्रतिभासों का अनुभव करता और प्रमातारूप से विकारी

कर्ता, भोक्ता (संसारी) बनता है। प्रकाश्य पदार्थ प्रकाशक या प्रकाश-रूप से भिन्न नहीं हो सकता, अन्यथा वह प्रकाशित ही न होगा। निर्विकार, एकरस, प्रकाश साक्षी आत्मा का स्वभाव है, विज्ञानमय और भोक्ता आनन्दमय अध्यास का कार्य है। स्वरूप को जान लेने पर जीव स्वरूप ही हो जाता है; सब अध्यास (भ्रान्तिज्ञान) निवृत्त हो जाता है। उस समय ईश्वरसृष्ट जगत् भी बाधित हो जाता है। ज्ञानी का जगद्दर्शन पारमार्थिक नहीं है। जीवसृष्टि और ईश्वरसृष्टि दोनों मिथ्या है, क्योंकि परिज्ञात (निरावरण) आत्मस्वरूप में माया या अविद्या का अस्तित्व नहीं है।

प्रमाण की सहायता से प्रमाता प्रमेय को जानता है। साक्षी आत्मा निर्विकार रूप में त्रिपुटी को प्रकाशित करता है। साभास अन्तःकरण का त्रिविध परिणाम या त्रिपुटी प्रत्यगात्मा में कल्पित है। अन्तःकरण अविद्या का कार्य होने के कारण वस्तुतः मिथ्या है। बिम्बभूत निराभास साक्षीचैतन्य ही ब्रह्म एवं एकमात्र परमार्थ सत्य है। सजातीय ज्ञान की सहायता से समस्त अनात्म-वासनाओं का क्षय हो जाता है। त्रिपुटीवासना दृढ़ भ्रम से उत्पन्न होती है, अतः वह मिथ्या है। सम्यक् ज्ञान का उदय होने पर उसकी निवृत्ति हो सकती है। जलशून्य किसी स्थान में भ्रम से जलज्ञान होने पर बाद में जल की स्मृति और संस्कार (वासना) भी उत्पन्न होता है। किन्तु दैववशात् यदि यथार्थज्ञान ('यहाँ जल नहीं है' ऐसा निश्चय) उदित होता है, तो उसी क्षण भ्रान्तिज्ञान, स्मृति एवं दृढ़ जलबुद्धि (जल वासना) एक साथ निवृत्त हो जाती है। दार्ष्टान्त में भी ठीक यही स्थिति है। विवेक तथा विचार के फलस्वरूप निज शुद्ध, बुद्ध, परमात्मास्वरूप का ज्ञान सहज में ही उत्पन्न होता है। परिणामस्वरूप विषयवासना भी निवृत्त हो जाती है। एकबार सम्यक् ज्ञान का उदय होने पर फिर कभी आत्मस्वरूप का आवरण या विक्षेप हो नहीं सकता। मिथ्या पर सत्य की स्वाभाविक विजय ही इसका एकमात्र कारण है।

यत्र स्थितेयं विश्वश्रीः प्रतिभामात्ररूपिणी ।
रज्जवां भुजंगवद्भाति स्वयमात्मा सदोदितः ॥२०॥

जिस आत्मा में स्थित (अध्यस्त) होकर यह संसारशोभा रज्जु में भुजङ्ग के समान स्फूर्तियुक्त होती है, वही आत्मा सर्वदा प्रकाशरूप है। जैसे रज्जु को बिना जाने सर्पभ्रम उत्पन्न होता है, वैसे ही आत्मा का अज्ञान या अपने को देहादिरहित स्वयम्प्रकाश, पूर्णानन्दरूप न जानना ही विश्वस्फुरण का एकमात्र हेतु है। जगत् आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित है, वह प्रकाश्य होने से मिथ्या है। देह, प्राण, मन आदि समस्त दृश्यों का बाधकर स्वप्रकाश आनन्दस्वरूप में स्वयं स्थित होना ही जीवन्मुक्ति है।

अब २१ से २६ तक छः श्लोकों द्वारा आत्मस्वरूप का निरूपण किया जा रहा है—

आद्यन्तरहितः सत्यश्चिद्रूपो निर्विकल्पकः ।
आत्मा निरुपिताकाशो जीवस्याऽऽद्यः परात्परः ॥२१॥

आत्मा चैतन्यरूप एवं उत्पत्ति-विनाश रहित है। भूत भविष्यत् और वर्तमानकालीन कोई भी विकल्प उसका स्पर्श नहीं करता। आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ है, आत्मा ही जीव का स्वरूप है। यह आत्मा समस्त पदार्थों से श्रेष्ठ है। वह व्यापक, दृश्यमान भूताकाश से श्रेष्ठ है। आत्मा चेतन (स्वयं प्रकाशित) हैं। वह सब विकार तथा विकल्पों से रहित है। यह आत्मा ही जीव है।

आत्मा विशुद्धचैतन्यस्वरूपः शाश्वतो विभुः ।
निर्विकारः स्वयञ्ज्योतिः स्वभावोऽर्कप्रकाशवत् ॥२२॥

आत्मा द्रष्टा, दृश्य, दर्शनरहित प्रकाशरूप है। वह नित्य व्यापक एवं विकारशून्य है। जिस प्रकार सूर्य ज्योतिस्वरूप है—उसे प्रकाशित करने के लिए अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार

आत्मा भी अपने से सर्वदा प्रकाशमान है। आत्मा कभी भी अप्रकाशित नहीं है, उसे प्रकाशित करने के लिए अन्य ज्योति की अपेक्षा नहीं होती। त्रिपुटी जगत् उसी के प्रकाश से अनुभूत होता है। किन्तु दृश्यत्रिपुटी साक्षीभास्य (प्रतिभासित) होने के कारण मिथ्या है। नित्य, असङ्ग, निर्विकार, एकरस, प्रकाश एवं आनन्द ही सबकी आत्मा (सारवस्तु) है और वही पारमार्थिक सत्य है। अज्ञानदशा में आत्मा का अभाव, अज्ञान और जगत् का ज्ञान जो कुछ प्रतीत होता है,वह सत्य नहीं है। दृश्य दर्शन द्रष्टा त्रिपुटीसाक्षी विशुद्ध चिदात्मा में नहीं है। जगत् का अनुभव एक, अद्वितीय परमात्मा के अखण्ड प्रकाश में पर्यवसित होता है त्रिपुटी जगत् किंचिन्मात्र भी भिन्नरूप या संस्काररूप में विद्यमान नहीं रहता। अखण्ड चित्प्रकाश में अज्ञान किसी भी काल में नहीं है। वह केवल कल्पित होकर ही रहता है। आत्मा का ऐसा निरूपण उत्तम मुमुक्षु के लिए परम उपादेय है। जो सम्यक् अनुभवसिद्ध(स्वतः सिद्ध)है,वह जीवन्मुक्त का सहज सिद्ध ज्ञान है। उत्तम मुमुक्षु उसी का साक्षात् अवलम्बन कर क्षण-क्षण में विशुद्ध चिदात्मा का प्रत्यग्रूप में अनुभव करता है। यह समाधि या तीसरी ज्ञानभूमिका है। इसके स्वाभाविक अभ्यास से निर्विकल्प समाधि के परिपाक में भेदवासना निवृत्त हो जाती है। फलस्वरूप अंतिम साक्षात्कारवृत्ति का उदय होता है। यह चौथी ज्ञानभूमिका है।

आत्माऽनुभवमात्रात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः।
प्रकाशानन्यचैतन्याव्यतिरिक्तोऽनलष्णवत् ॥२३॥

आत्मा अनुभविता अनुभाव्य आदि त्रिपुटीरहित शुद्ध अनुभव है। वह सर्वव्यापी तथा सबका आधार है। जिस प्रकार अग्नि उष्णरूप है, उसी प्रकार आत्मा स्वप्रकाश एवं चैतन्यरूप है। हितकर उपदेश का पुनः पुनः कथन करने से मुमुक्षु का ज्ञान दृढ़ होकर मोक्ष पर्यवसित होता है। इसीलिए 'आत्मा विशुद्ध चैतन्य है'यह फिर जोर देकर कहा

जा रहा है। चिदाभासत्रिपुटी (चित्त, चेत्य, चिन्तन) मिथ्या है, क्योंकि वह साभास अन्तःकरण का परिणाममात्र है। 'मैं यह अनुभव करता हुँ' इस प्रकार विज्ञानमय कोश के अन्तःपाती वृत्तिज्ञान त्रिपुटीसाक्षी प्रत्यक् चैतन्य से ग्रस्त है। सूक्ष्म भोक्ता (स्वाप्निक आनन्दमय) भी सौषुप्त आनन्दमय से कवलित (भक्षित) होता है। सौषुप्त आनन्दमय का अज्ञान अध्यस्तमात्र है,क्योंकि अज्ञान के साथ उसका कोई अध्यास नहीं है। सुतराम,वह अज्ञानविनिर्मुक्त,अखण्ड प्रकाशरूप है। अज्ञानका कार्य या किसी प्रकारकी सूक्ष्म दृश्यत्रिपुटी उसमें भासित नहीं हो सकती।

अग्निसम्बन्धी उष्णता के समान प्रकाश आत्मा का निज सनातन स्वभाव है। उसका कभी नाश नहीं हो सकता। फिर, सूर्य आदि अनात्म पदार्थों के प्रकाश से आत्मा का प्रकाश अत्यन्त विलक्षण है। सूर्य आदि आत्मचैतन्य की सहायता से आत्मा में आरोपित होकर प्रकाशित होते हैं पर चिदात्मा स्वयं और सर्वदा प्रकाशमान रहता है! महाप्रलय में सूर्य आदि कोई अनात्मपदार्थ नहीं रह जाता; परन्तु आत्मब्रह्म निज,अखण्ड प्रकाशस्वरूप में उस समय भी विद्यमान रहता है। अन्यथा महाप्रलय की सिद्धि ही किस प्रकार होगी? निरावरण चित्प्रकाश (आत्म साक्षात्कार) ही वास्तविक महाप्रलय है। आत्मा की व्यापकता और अधिष्ठानता परमार्थतः मिथ्या है। वह आत्मा का तटस्थ लक्षणमात्र है। चिदात्मा के सिवा कुछ भी किसी देश या किसी काल में नहीं है, नहीं था और न रहेगा। तटस्थ और स्वरूप दोनों लक्षणों की सहायतासे वेदान्तशास्त्र में आत्मा का निरूपण किया गया है।

चित्तवर्जितचिन्मात्रः परमात्मावभासकः।
स बाह्याभ्यन्तरव्यापी निष्कलो निश्चलाश्रयः ॥२४॥

परमात्मा अन्तःकरण-चतुष्टय से भिन्न होता हुआ भी स्वयं प्रकाशक (सर्वदा प्रकाशस्वरूप) है। वह बाह्य एवं आन्तर समस्त कल्पित पदार्थों में व्याप्त है। वह अखण्ड एवं निष्प्रकम्प है (यहाँ'साधनरहस्य'

शीर्षक निबन्ध में लघुवाक्यवृत्ति की व्याख्या द्रष्टव्य है)। आत्मा ही ज्योतिःस्वरूप है ! जड़ दृश्यरूप चित्त (चेत्य, चिन्ता, चिन्तक) आत्म-चैतन्य में अध्यस्त होकर (आत्मप्रकाश का प्रतिबिम्ब पाकर) चेतना-युक्त प्रतीत होता [गीता १३।६] और अन्य पदार्थों [प्रमेयों] के प्रकाशन में समर्थ होता है। आत्मा निर्विषय चैतन्य है वह अन्य निरपेक्ष होकर अपने में सर्वदा प्रकाशमान रहता है और स्वरूपाध्यस्त अविद्या अन्तःकरण, समस्त साभास त्रिपुटी कल्पित दृश्यवर्ग को अपनी ज्योति स उद्भासित करता है। फलस्वरूप साक्षीभास्य साभास अन्तःकरण-वृत्ति विषयों के प्रकाशन में समर्थ होती है। साक्षात्कारवृत्तिद्वारा अज्ञान बाधित होता है। बाधिका वृत्ति भी कतक-रेणु के समान स्वयं बाधित हो जाती है। आत्मा नित्य, निराभास, स्वयंज्योतिरूप में परिशिष्ट रहता है। जिस प्रकार आत्मा में फल व्याप्ति सम्भव नहीं है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष में बन्ध, विक्षेप या समाधि-अनुष्ठान कुछ भी नहीं रहता। जिस प्रकार आकाश सर्वदा आकाशभाव में अवस्थित है, उसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता निज ब्रह्मस्वरूप में नित्य-निरन्तर स्थित रहते हैं। इसीलिए सुरघु, जनक आदि ज्ञानी पुरुष पुनः समाधि का अनुष्ठान न करके भी सर्वदा ही समाहित है - उनकी समाधि कभी भी भङ्ग नहीं होती। व्युत्थान या समाधि आत्मा में कल्पित मात्र है। जीवनमुक्तिसम्बन्धी (सवृत्तिक) विलक्षण आनन्द, पञ्चमी आदि ज्ञानोत्तर तीन भूमिकाएँ मुमुक्षु की बोधसाधक उत्तम शास्त्रीय कल्पना है। सम्यक् ज्ञान होनेपर ही मुक्ति होती है। आत्मबोध के बिना वैराग्य परमानन्दप्रदान में समर्थ नहीं है (देखिये आचार्य का 'अनात्मश्रीविगर्हण')। दसवें प्रकरण में ज्ञातत्वोपलक्षित इसी पर-ब्रह्मस्वरूप का विस्तृत निरूपण किया जायगा।

स आत्मा चिन्मयः स्वस्थः प्रबुद्धोपचयच्युतः।
हेयग्राह्योज्झितो देशकालजात्याद्यसंगतः ॥२५॥

आत्मा चिद्रूप, निर्मल एवं ज्ञानरूप है। उसका क्षय नहीं है और

निजस्वरूप होने से वह ग्रहण एवं त्याग के भी अयोग्य है। आत्मा में देश, काल, जाति आदिकृत कोई सम्बन्ध नहीं हैं। आत्मा चेत्य, चित्त, चिन्तन आदि से रहित शुद्ध चैतन्य है। आत्मा सर्वदा चिदानन्दस्वभाव में स्थित है, उसमें अविद्याध्यास नहीं है। वह अनावृत्त प्रकाशरूप (साक्षात्कार द्वारा उपलक्षित) है। ग्रहीता और त्यागकर्ता का निज स्वरूप होने से आत्मा ग्रहण या त्याग का विषय नहीं है। उसमें माया-कल्पित देश-कालादि एवं तत्कृत सम्बन्ध (परिच्छेद) हो नहीं सकते। आत्मज्ञानी अपने स्वरूप को इस प्रकार निश्चितरूप से जानते हैं।

ब्रह्माण्डे च यथा वायुः सर्वभूतगतस्तथा।
स एव भगवानात्मा तनुमुक्तो व्यवस्थितः ॥२६॥

जिस प्रकार वायु ब्रह्माण्ड के समस्त भूतों में व्याप्त रहकर भी असङ्ग रहती है, उसी प्रकार प्रत्यगात्मा भी स्थूल सूक्ष्म एवं कारण-शरीरों से सर्वदा विनिर्मुक्त रहता है। देह, प्राण, मन और अविद्या का अध्यास आत्मा में नहीं है। परस्परविरुद्ध (विजातीय) दो वस्तुओं में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रह सकता। देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार और अविद्या सभी अनात्मा है। आत्मा से इनका 'मैं, मेरा' किसी प्रकार का सम्बन्ध सम्भव नहीं है। देह, प्राण और मन के साथ आत्मा का सम्बन्ध भ्रम से प्रतीत होता है - अध्यासकृत है, वास्तव नहीं। प्रथम श्लोक में यह विस्तृतरूप से दिखलाया जा चुका है। इस प्रकार विवेक, विचार के फलस्वरूप अपने स्वरूप का अनुभव सहज सिद्ध हो जाता और उत्तर मुमुक्षु पुरुष अनायास मुक्त हो जाता है। २१ वें श्लोक से यहाँ तक आत्मस्वरूप का निरूपण मुमुक्षु के लिए अत्यन्त विचारणीय है।

एवं चिद्गगनाभोगे भूषणे व्योम्नि भास्करे।
धराविवरकोशस्था सैव चित् कीटकोटरे ॥२७॥

जो चैतन्यमात्र सत्ता आकाश, आभूषण एवं सूर्य में विराजमान हैं

और भूमि-विवर तथा घनागार में विद्यमान है, वही चैतन्य छोटे से कीड़े में भी अवस्थित है। स्वर्ग, पृथिवी, पाताल, आकाश सर्वत्र आत्मचैतन्य ही परिव्याप्त है। पृथिवी के छिद्र में, पशु, पक्षी एवं कीट के भीतर भी वही एक चित्स्वरूप विद्यमान है। यह अखण्ड प्रकाश और आनन्द मुमुक्षु के चित् में सम्यक् उदित होने पर वह ज्ञान तथा सुखरूप इसी एक अद्वय संवित्तत्त्व में 'अहं-इदं' आदि सकल दृश्यप्रपञ्च तथा उनकी वासनाओं के सहित निमग्न होकर परिपूर्ण प्रत्यगानन्दरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति ब्रह्मैवास्ति निरन्तरम्।
नैकमस्मि न च द्वैतं संवित् स्फारं विजृम्भते ॥२८॥

बन्ध, मोक्ष, एकत्व और द्वैत कुछ भी नहीं है। वे कल्पित हैं, चैतन्यघन ब्रह्ममात्र विद्यमान एवं प्रकाशित है। द्वैत, अद्वैत या बन्धन-मुक्ति की प्रतिति मिथ्याज्ञान है। एक सनातनब्रह्म ही विराजमान और सर्वत्र प्रकाशित है।

ब्रह्म चिद् ब्रह्म भुवनं ब्रह्म भूतपरम्परा।
ब्रह्माऽहं ब्रह्म मच्छत्रुर्ब्रह्म मन्मित्रबान्धवाः ॥२९॥

ज्ञान, भुवन, जन्तुश्रेणी, देवदत्तादि शत्रु, मेरे मित्र एवं बन्धु बान्धवगण और सभी निश्चित रूप से एकमात्र ब्रह्म हैं। जीव, ईश्वर, स्वर्ग, मृत्यु, पाताल सब ब्रह्म हैं। पर्वतादि सब दृश्य भी ब्रह्म हैं। मैं भी ब्रह्म हूँ। मेरा शत्रु और मित्र सभी ब्रह्म है। इस प्रकार पूर्ण आत्मज्ञानी को सर्वत्र नित्य-निरन्तर ब्रह्मभावना होती है।

अब बन्ध तथा मोक्ष का वास्तव स्वरूप बतलाया जा रहा है—

चिच्चेत्यकलना बन्धस्तन्मुक्तिर्मुक्तिरुच्यते।
चिदचेत्याखिलात्मेति सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहः ॥३०॥

भास्य और भासक की कल्पना ही बन्ध हैं। चेत्यरहित चित्प्रकाश

मुक्ति है। अखिल पदार्थों का आत्मा चेत्यमुक्त चैतन्य है। यही समस्त सिद्धान्तों का सार है। चैतन्य का स्वरूप बद्ध भी नहीं है और मुक्त ही है। दृश्यपदार्थ के साथ तद्रूपता चैतन्य का बन्धन है। यही प्रथम श्लोक में कथित जीवभाव और दृश्यत्रिपुटी के साथ असम्बन्ध मुक्ति या निरावरण, निर्विषय चैतन्यस्वरूप में स्थिति है (देखिये २२-२४ श्लोक)। सम्पूर्ण 'योगवाशिष्ठ' ग्रन्थ का यही निष्कर्ष है।

चिदिहास्तीह चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च ।
चित् त्वं चिदहमेवेति लोकाश्चिदिति सङ्ग्रहः ॥३१॥

यहाँ एकमात्र चैतन्य ही विद्यमान हैं। यह विश्व, मैं, तुम लोक-समूह सब चैतन्यमात्र हैं। यही शास्त्र का सार है। ३० और ३१ वाँ श्लोक राजा बलि के प्रति शुक्राचार्य का उपदेश है (उपशम प्रकरण, सर्ग २६, श्लोक १३ और ११)।

सदस्ति सद्भाति तदात्मरूपं सच्चान्यतो भाति न चान्यदस्ति ।
स्वभावसं वित्प्रतिभाति केवला ग्राह्यं ग्रहीतेति मृषा विकल्पः ॥३२॥

जो विद्यमान एवं भासमान है, वह आत्मस्वरूप ही है। आत्मस्वरूप के व्यतिरिक्त जो प्रतीत होता है, वह अवस्तुभूत (मिथ्या) है। अहं शब्द का लक्ष्यार्थ प्रत्यगात्मा ही केवल प्रतिभात होता है—'यह ग्राह्य (विषय) है, यह उसका ग्रहीता (विषयी) है' आदि सभी विकल्प नितान्त मिथ्या हैं। चिदाभास त्रिपुटीदृश्य मिथ्या है, यह पहले एक बार बतलाया जा चुका है। बिम्बभूत, विषयरहित, शुद्ध द्रष्टा (साक्षी) ही निरुपाधि, निर्विकार, एकरस ब्रह्म है। उसमें वस्तुतः कोई आवरण हो नहीं सकता। वह अहं शब्द का लक्षितार्थ है। उसमें किसी प्रकार का विक्षेप भी नहीं है। उसका भान स्वतः और सर्वदा होता है। भोगवासना और भेदवासनारूप समस्त प्रतिबन्ध कल्पित है। इस आत्मसंवित् सकृत् निरावरण प्रकाश ही अखण्ड मुक्तिसुख है। ॐ

जीवनमुक्ति और निर्वाण ::१०::

भगवान वशिष्ठजी ने कहा—

दृश्यदर्शनसम्बन्धान्न भवेत् परमं सुखम् ।
तदेवैकान्तसंवित्त्या मनोनाश परं पदम् ।। १ ।

इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध से प्रकृष्ट सुख उत्पन्न नही होता। मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान से जो मनोनाश सम्पन्न होता है, वही निरतिशय आनन्द है। जबतक दृश्यत्रिपुटी का आत्यन्तिक नाश नहीं होता, तब तक परमानन्द प्राप्त नहीं होता। त्रिपुटी साभासमन का त्रिविध परिणाममात्र है। अतः जबतक मन का नाश नहीं होता, तबतक भोक्ता, भोग और भोग्य सुख (त्रिपुटी) निज साक्षीस्वरूप में अध्यस्त (लीन या संस्काररूप में विद्यमान) रहेगा। फलस्वरूप परिच्छिन्न विषयवासना विनिवृत्त न होगी। अज्ञात आत्मा भोक्ता अहंरूप में विलसित होता हैं। अहमर्थ का अधिष्ठान साक्षात्कृत होने पर अपरिच्छिन्न सुख प्राप्त होता है। अहंभाव का अधिष्ठान प्रत्यक् चैतन्य ही परमानन्दस्वरूप है। अधिष्ठान बोध का साक्षात्कारज्ञान के परिपाक में सम्भव होता है। ब्रह्माकारवृत्ति को 'एकान्तसंवित्' कहा गया है। युक्ति (मनन)—पूर्वक त्रिपुटीदृश्य का निरसन और ध्यान-समाधि के अभ्यास से समस्त विषयाकार वृत्तियों का निरोध होता है। परिणामस्वरूप निरुद्ध चित्त में भगवान् आत्मदेव का आविर्भाव होता है।

मन का निरोध हुए बिना त्रिपुटी का अस्तित्व बना रहेगा और परिच्छिन्न प्रमातृभाव नष्ट न होगा। अध्यास के निवृत हुए बिना अज्ञानावरण नष्ट न हो सकेगा। अहमर्थ प्रमाता के रहने पर संसार का अभाव न होगा और प्रकृष्ट सुख भी प्राप्त न होगा। साक्षात् परिज्ञात आत्मा ही परमसुखरूप है, उसमें दुःख का लेश भी नहीं है

(छान्दोग्य की सनत्कुमारविद्या देखिये)। भूमानन्द अहमर्थ का अधिष्ठान है। परिच्छिन्न अहंभाव (प्रमातृभाव) प्रत्यगात्मा में केवल कल्पित है। 'मुझ साक्षी में अविद्या, अन्तःकरण और चिदाभास (प्रमाता) नहीं हैं; मैं निर्दृश्य, निराभास, निर्विकार, एकरस चैतन्यमात्र (प्रकाश या अनुभवमात्र) हूँ' ऐसे मनन एवं ध्यान से अधिष्ठानबोध स्वयं प्रकाशित (वृत्तिद्वारा ज्ञात) होता है। इन्द्रिय तथा विषयों के सम्बन्ध से जो सुख उत्पन्न होता है, वह साक्षीभास्य है। जो दूसरे की सहायता से प्रकाशित होता है, वह परिच्छिन्न अल्प, सातिशय और विनश्वर है। इसीलिए वह अनित्य एवं मिथ्या है। जो स्वतः प्रकाशित है, वही परमार्थ सत्य एवं निःसीम निजानन्द है। अन्तःकरण विशिष्ठ अहंभाव का विगलन होने पर प्रत्यक् सुख स्वयं भासमान होता है। अतः मुमुक्षु को दृश्यत्रिपुटी के निरसन में सर्वदा यत्नशील होना चाहिए।

दृश्यदर्शनसम्बन्धे सुखसंविदनुत्तमा।
दृश्यसंवलितो बन्धस्तन्मुक्त्या मुक्तिरुच्यते ॥ २ ॥

विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर उनके प्रकाशरूप मे जो अनुत्तम सुखसंवित् अनुभूत होती है, उस साक्षीचैतन्य के ही दृश्यत्रिपुटी के साथ मिलने पर बन्धन होता है और दृश्यसम्बन्ध का अभाव होने पर निरतिशय सुखप्राप्ति (मुक्ति) होती है। यह अत्यन्त गूढ़ वेदान्त-रहस्य है। अत्यन्त सूक्ष्म होने से उसका बार-बार उपदेश किया गया है। मुमुक्षु को उसे पूर्ण प्रयत्न से धारण करने की चेष्टा करनी चाहिए विषयों के भोगकाल में 'मैं यह भोगता हूँ' इस प्रकार त्रिपुटी का प्रकाशक स्वयं अनुभूत होता है। किन्त यह साक्षी मैं प्रमाता या भोक्ता का प्रकाशक है। 'मैंने' पहले बहुत परिश्रम करके इस विषय का अर्जन किया है, इस समय 'मुझे' यह विषय प्राप्त है, 'मैं' बड़ा भाग्यवान् हूँ, 'मैं' इस समय इनका सुख भोग रहा हूँ", इस प्रकार सभी 'मैं' के भीतर अनुभूतरूप में विद्यमान है। प्रिय, मोद, प्रमोद आदि वृत्तियों

का साक्षात् ज्ञाता, असङ्ग, एकरस, निर्विकार प्रत्यक चैतन्य ही वास्तविक 'मैं' है। मुमुक्षु इस निज, कूटस्थ स्वयं अनुभूयमान स्वरूप को प्रकृष्ट विवेक की सहायता से चिदाभास भोक्ता 'मैं' से अत्यन्त भिन्न रूप में जान लेता है। (देखिये 'आनन्दतत्त्व-मीमांसा' निबन्ध)।

प्रश्न—हृदय में स्वतः प्रकाशमान, अहमर्थ का अधिष्ठान, सुख-स्वरूप, असङ्ग, अद्वितीय प्रत्यक् चेतन को यह बन्धन कैसे प्राप्त होता है? उत्तर अन्तःकरण से तादात्म्याध्यास के फलस्वरूप कूटस्थ साक्षी जीवभाव (प्रमाता अहम्भाव) को प्राप्त होकर सांसारिक सुख-दुःख भोगता है। यही भ्रमयुक्त आत्मा का बन्धन है।

प्रश्न – जीव मुक्त कैसे हो सकता है? उत्तर – विवेक और विचार की सहायता से स्वप्रकाश निज सुखस्वरूप का परिज्ञान होने पर अन्तःकरण के साथ भ्रमयुक्त (आध्यासिक) सम्बन्ध शिथिल हो जाता है। निदिध्यासन के अभ्यास से शुद्ध साक्षीस्वरूप में अहंबुद्धि दृढ़ होती है और अन्त में प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार उदित होता है। अध्यास की निवृत्ति होने पर निरतिशय सुखस्वरूप आत्मा प्रत्यग्रूप में सर्वदा स्फुरित होता हैं।

प्रश्न – 'अनुत्तम सुखसंवित्' किसे कहते हैं? उत्तर—अपरोक्षरूप में ज्ञात स्वप्रकाश निज निःसीम आत्मानन्द ही 'अनुत्तम सुखसंवित्' है। अन्तरात्मा अपारसुखस्वरूप और नित्य प्रकाशशील है। जीव भ्रम से अपने को अपरिच्छिन्न भोक्तारूप में अनुभव करता है। ज्ञान की सहायता से इस भ्रम(अध्यास) के निवृत्त होनेपर वह निज निरतिशय सुख का स्वयं अनुभव करता है।

शुद्धं सदसतोर्मध्ये पदं लब्धाऽवलम्ब्य तत्।
सबाह्याभ्यन्तरं विश्वं मा गृहाण विमुञ्च मा ॥३॥

जड़ और अजड़ में वर्तमान (प्रत्यक्ष अनुभूयमान) शुद्ध आत्मस्वरूप का अवलम्बन करके बाह्य और आन्तर सकल दृश्यों से उदासीन

होकर अवस्थान करो। विश्व वास्तव में किसी काल में भी नहीं है। सत् और असत् सब (प्रातिभासिक) पदार्थ कल्पित हैं। उनका अधिष्ठान निर्दृश्य द्रष्टा ही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। सुतराम्, अखिल प्रपञ्च में तुम्हें उदासीन रहना ही उचित या युक्तियुक्त है। किसी विषय में ग्रहण या त्यागबुद्धि सम्भव नहीं, क्योंकि प्रपञ्च किसी भी काल में नहीं है। जो है ही नहीं उसका त्याग या ग्रहण कैसे हो सकता है? ज्ञानी कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म सभी द्वन्द्वों से उदासीन रहते हैं, क्योंकि समस्त पदार्थ उनकी प्रतीति नितान्त मिथ्या हैं।

भगवान् वशिष्ठजी पुनः मुमुक्षु के लिए हितकर उपदेश करते हैं-

जडाजडदृशोर्मध्ये यत्तत्त्वं पारमार्थिकम्।
अनंताकाशहृदयं तत् सदाश्रय सर्वदा ॥४॥

जड़ तथा चेतन पदार्थसम्बन्धी उभयविध ज्ञानों में जो पारमार्थिक तत्व हृदय में अखण्ड प्रकाशमान है, उसी व्यापक, शुद्ध तत्व का सर्वदा आश्रय करो। जड़ और चेतन (इदं और अहं) उभयविध प्रतीतियों के मूल में स्वयम्प्रकाश साक्षी विद्यमान है। उसी की सत्ता और स्फुरण अध्यस्त प्रातिभासिक त्रिपुटियों में आरोपित होते हैं। अतः जैसे प्रमिति का वास्तव स्वरूप अधिष्ठानबोध है, वैसे ही प्रमाता का भी वास्तव स्वरूप यही अधिष्ठानबोध है। अतएव हे राम! तुम उस अधिष्ठानबोध को ही सर्वदा अपना यथार्थ स्वरूप समझो। तुम परिच्छिन्न प्रमाता नहीं हो, प्रमाण और प्रमेय के साथ भी तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। भ्रम से यह सम्बन्ध प्रतीत होता है। यह सब (दृश्यत्रिपुटियाँ) अन्तःकरण का विकारमात्र है और तुम सब विकारों के केवल प्रकाशक हो। अतः तुम में प्रमातृभाव आदि विकार कैसे रह सकते हैं? दृश्य अन्तःकरण का धर्म दृक्स्वरूप आत्मा में किसी भी काल में नहीं है। अन्तःकरण में ही उसका अनुभव होता है। अद्वितीय, एकरस आत्मा में विजातीय अनुभव सम्भव नहीं है। 'एक वस्तु के

धर्म केवल भ्रम से ही अन्य वस्तु में प्रतीत हो सकते हैं' इस युक्ति तथा विवेक की सहायता से आत्मा-अनात्मा का परस्पराध्यास (अन्योन्य-मेलन) शिथिल हो जाता है।

द्रष्टृदृश्यस्य सत्ताङ्ग बंध इत्यभिधीयते।
द्रष्टा दृश्यवशाद्बद्धो दृश्याभावे विमुच्यते ॥५॥

दृश्य के साथ सम्बन्धवशात् द्रष्टा बद्ध होता है और सम्बन्ध के अभाव में वह स्वयं मुक्त हो जाता है।

द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह।
दर्शनं प्रथमाभासमात्मानं समुपास्महे ॥६॥

द्रष्टा, दर्शन और दृश्य इन तीनों का, उनकी वासनाओं के साथ परित्याग करके जिसके प्रकाश में त्रिपुटी प्रकाशित होती है और त्रिपुटी की उत्पत्ति के पहले भी जो स्वयं प्रकाशमान रहता है, उस आत्मतत्व का हम स्वकीय स्वरूप में अनुभव करते हैं। छठा और सातवाँ श्लोक उपशम प्रकरणोक्त सिद्ध (ज्ञानी) पुरुषों का अनुभव है। इस 'सिद्धगीता' के श्रवण से जनक प्रबुद्ध हुए थे। त्रिपुटीदृश्य का निरसन होने पर निर्दृश्य दृक् स्वयं भासमान हो जाता है। दृश्यसम्बन्धी वासना को भी ध्यान समाधिरूप ब्रह्माभ्यास से विनष्ट करना होगा, तभी निश्चल बुद्धि में शुद्ध साक्षी सम्यक् प्रकाशित होगा।

प्रश्न—त्रिपुटी-निरसन के उपरान्त तो कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता होगा? उत्तर—जो निरसन कहते हैं, वे निरसनीय पदार्थ नहीं है, अतः निरसन के बाद वे अवश्य शेष रहेंगे। उनका निरसन कौन करेगा? वे अवशिष्ट न रहें, तो त्रिपुटी का निरसन हुआ या नहीं, इसे कौन बतलायेगा? अतएव-निरसनीय त्रिपुटी के पहले क्षणिक समाधि अवस्था में जो अहं तथा इदंभाव के अभाव को प्रकाशित करके नित्य अनुभवस्वरूप में विद्यमान रहते हैं, वही आत्मभगवान् दृश्यबोध

के अवधिरूप में अवश्य ही अवशिष्ट रहते हैं (देखिये चित्तविश्रान्ति)।

प्रश्न 'दर्शनं प्रथमाभासम्' पद का क्या अर्थ है ? उत्तर-त्रिपुटी की उत्पत्ति का पहले प्रकाशमान प्रत्यगात्मा। दो भिन्न वृत्तिज्ञानों या अवस्थाओं के अन्तराल (सन्धिक्षण) में वृत्ति या अवस्थासम्बन्धी अभाव के प्रकाशरूप में नित्य अनुभूयमान आत्मदेव।

प्रश्न उस आत्मदेव का अनुभव कैसे होता है ? उत्तर— यह अनुभव स्वतः और सर्वदा होता रहता है। अनुसन्धान न करने से उस ओर ध्यान नहीं जाता। वह अनुभव वृत्तिपूर्वक नहीं होता, युक्ति की सहायता से लक्षित होता है।

प्रश्न - यह युक्ति क्या है ? उत्तर—'अच्छा, बतलाओ कि दृश्य दर्शन के पहले क्या था।' प्रश्नकर्त्ता का उत्तर— 'कुछ भी नहीं था।' सिद्धान्ती का प्रश्न—'तुम भी नहीं थे ?' प्रश्नकर्ता का उत्तर—मैं तो था, और कुछ नहीं था।' सिद्धान्ती-यही निर्दृश्य दृक्स्वरूप आत्मदेव का क्षणिक (सवृत्तिक) अनुभव है (देखिये ८ वाँ और २२ वाँ श्लोक)।

प्रश्न सिद्धों की आत्मोपासना कैसी होती है ? उत्तर नित्यानुभवस्वरूप प्रत्यक् चेतन भी मेरी आत्मा है, ऐसा अभेदज्ञान-दृश्यरहित आत्मा का अहंरूप में स्वाभाविक स्फुरण (निदिध्यासन) ही सम्यक् उपासना है। (अगले श्लोक में भी उपासना का यह अर्थ समझाया गया है।)

द्वयोर्मध्ये गतं नित्यमस्ति नास्तीति पक्षयोः।

प्रमाशनं प्रकाशानामात्मानं समुपास्महे ॥ ७ ॥

जड़ और चेतन दोनों के सत्ता-स्फुरण का हेतु और सूर्यादि भौतिक प्रकाशों का भी भासक जो आत्मदेव है, उसकी हम उपासना करते हैं। सत् असत् दोनों पक्ष प्रतीतिरूप हैं। सकल वृत्तियों की सत्ता और स्फुरण प्रत्यगात्मा के अधीन है। साक्षीचेतन ही सूर्य, प्रमाता, प्रमाण आदि समस्त त्रिपुटियों को प्रकाशित करता है। सूर्य, अन्धकार तथा अहमर्थ का भासक आत्मा है।

प्रश्न – साक्षी तो सर्वज्ञ है। फिर 'मैं' साक्षी कैसे हो सकता हूँ ? उत्तर—सकल प्रतिभासिक विषयों के ज्ञाता और प्रकाशरूप तो तुम ही हो, यह तुम्हें अनुभवसिद्ध है। अहम्, इदम्, तम, प्रकाश सब कुछ तुम जानते हो। अतः तुम ही साक्षी हो (इस सम्बन्ध में मुमुक्षु के मननोपयोगी वाच्यैक्यविमर्श निबन्ध द्रष्टव्य है)।

निद्रादौ जागरस्यान्ते यो भाव उपजायते।
तं भावं भावयन् साक्षादक्षयानन्दमश्नुते ॥ ८ ॥

जाग्रदवस्था के अन्त और निद्रा के आरम्भकाल में जो निर्विषय आत्मा का अनुभव स्वतः उदित होता है, उस पर निरन्तर ध्यान रखने से अक्षय आनन्द (मुक्तिसुख) प्राप्त होता है। समस्त विषयाकार-वृत्तियाँ और अविद्या का कार्य प्रकाशस्वरूप आत्मा में कल्पित हैं। जागरण, निद्रा आदि सभी अवस्थाएँ भी सोपाधिक एवं मिथ्या हैं। वे आत्मा को वास्तव में परिच्छिन्न नहीं कर सकती; तथापि जबतक अपरिच्छिन्न आत्मा का क्षणिक अनुभव प्राप्त नही होता, तबतक उपाधिविशिष्ट आत्मा का ही ज्ञान होता है। इसीलिए प्रमातृभाव (परिच्छिन्न जीवभाव) बढ़ता जाता है और चित्त एवं चेत्य दृढ़ सत्यरूप में प्रतीत होते हैं। विवेक और विचार के अवलम्बन से दो अवस्थाओं के मध्य निरुपाधि आत्मा का अनुभव स्वयं प्राप्त हो जाता है और वृत्तिद्वारा आत्मा चिन्तन (समनन ध्यान) सम्भव होता है (यहाँ 'साधनरहस्य' तथा 'चित्तविश्रान्ति' दोनों निबन्ध द्रष्टव्य है)। चित्त यदि विषयाकार में आकारित न हो, तो अवश्य ही स्वतः आत्माकार में आकारित हो जायगा-खण्डित या अखण्डरूप बिना चित्त का अवस्थान सम्भव नहीं है। विवेक विचारशील मुमुक्षु बुद्धि को लय न होने देकर समस्त विक्षेपों (विषयचिन्तन)से भी रक्षा करते हैं। फलस्वरूप चित्त की अखण्डस्थिति (क्षणिक आत्मानुभव) सम्भव होता है।

जागरणदशा समाप्त हो चुकी है और निद्रा अब भी नहीं आयी है,

इन दोनों अवस्थाओं के सन्धिक्षण में अनुसन्धान का इच्छुक पुरुष सहज में ही आत्मा का अनुभव कर सकता है; क्योंकि विषयरहित साक्षी आत्मा का प्रत्यग्रूप में स्फुरण अनिवार्य है। आत्मा नित्य-निरन्तर प्रकाशमान है, अन्तरालदशा में वह अपने शुद्ध स्वरूप में भासित होता है—'यह मैं हूँ' इस प्रकार मुमुक्षु अनुभव करता है। अल्पकालीन इस अन्तर्मुख आत्मानुभव को 'क्षणिक समाधि' कहा गया है। अंग्रेज कवि वर्डस्वर्थ का यही एकमात्र लक्ष्य और सिद्धान्त है। बुद्धिवृत्ति की सहायता से इसका दीर्घकालीन विचार (मनन और निदिध्यासन) मुमुक्षु का प्रधान कर्त्तव्य है। फलतः साक्षात्कार उदित होता है [छठा श्लोक देखिये]।

अब आत्मानुभव या निर्विकल्प समाधि का लक्षण बतलाते हैं—

प्रशान्तसर्वासङ्कल्पा या शिलावदवस्थितिः ।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥ ९ ॥

समस्त सङ्कल्पों को आत्यन्तिक निवृत्ति होने पर बुद्धि जो जाग्रत् एवं निद्राविहीन, विक्षेपशून्य होकर पूर्णरूप में अवस्थान करती है, वह उत्कृष्ट आत्मस्थिति कही जाती है। यह बुद्धि का निराबाध [लय-विक्षेपरहित] स्वप्रकाश स्वरूप में एकीभवन है। जैसे समुद्र में निक्षिप्त लवणपिण्ड जल से अत्यन्त अभिन्न हो जाता है, वैसे ही लय-विक्षेप-रहित बुद्धि भी अधिष्ठानबोध के साथ एकीभूत होकर अखण्ड रूप में स्थित होती है। यह सुषुप्ति से अत्यन्त विलक्षण है। सुषुप्ति अवस्था में अपने में अध्यस्त आवरण (अविद्या का अभाववृत्ति) की निवृत्ति नहीं होती। दृश्यगर्भित [आवृत्त] आत्मा सुषुप्तिकाल में केवल भासमान रहता है। निर्विकल्प समाधि या स्वरूपस्थिति दशा में केवल निरावरण (निर्दृश्य) प्रत्यगात्मा स्फुरित होता है, यह अगले श्लोक में बतलाया जायगा (यहाँ २५ वा श्लोक देखिये)।

जडजां वर्जयित्वैकां शिलायां हृदयं च यत् ।
अमनस्कं महाबाहो तन्मयो भव सर्वदा ॥१०॥

हे राम ! जड़ता का परित्याग कर बुद्धि को जो अचलरूप में स्थित है, तुम समस्त अन्तर विक्षेपों से शून्य होकर आत्मा के साथ एकीभूत उस स्थिति का सर्वदा अवलम्बन करो। दृश्यरहित दृक्स्वरूप में सम्यक् परिणत (एकीभूत) होने पर बुद्धि अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त करती है। जिन्हें आत्मसाक्षात्कार उदित नहीं हुआ, उनकी बुद्धि प्रकृष्ट एवं प्रामाणिक नहीं हो सकती। ज्ञानी की बुद्धि आत्मा से अभिन्न होती है, उसमें प्राकृतिक गुणों का स्पर्श नहीं रहता। अतएव धीरे-धीरे (१) सत्त्व एवं रजोगुण की सहायता से तमोगुण का अभिभव, (२) सत्वगुण के अवलम्बन से रजोगुण का पराभाव और (३) शुद्ध प्रत्यक् चेतन के आश्रय से सत्वगुण के भी तिरोभाव का अभ्यास मुमुक्षु को करना चाहिए। विवेक, विरति और समाधि का अवलम्बन करने से मिश्र सत्त्व और विशुद्ध सत्त्वगुण का पराभाव किया जाता है। चतुर्थ ज्ञानभूमिका में स्थित पुरुष के ज्ञेयवासनायुक्त अन्तःकरण में स्वीकीय सहज आत्मज्ञान या स्वरूपनिश्चय होने पर सत्त्वगुण का भी स्पर्श नहीं रह जाता। अन्य पुरुष द्वारा दृष्ट होने पर भी ज्ञानी का अन्तःकरण वास्तव में नष्ट हो जाता है। ऐसी अत्यन्त ब्रह्मीभूत वृद्धि ही निर्णायकरूप में गृहीत होती है, क्योंकि परमात्मा में इस प्रकार एकीभूत प्रोज्ज्वल बुद्धिमें ही समस्त शास्त्र रहस्य नियतिनिर्देश से प्रतिभात होता है। त्रिपुटी दृश्य के साथ सम्पर्क जड़ता है। साक्षीभास्य सब पदार्थ जड़, परिच्छिन्न और मिथ्या सिद्ध होते हैं। भास्य विषय का परित्याग करने पर चिदाभास (प्रमाता) सहित चित्त (चेत्य आदि सब त्रिपुटियाँ) प्रत्यक् चेतन में एकीभूत हो जाती है, क्योंकि कल्पित वस्तु का स्वरूप अधिष्ठान ही हुआ करता है। जिस प्रकार नीरन्ध्र प्रस्तरखण्ड में कोई स्फुरण सम्भव नहीं, उसी प्रकार परिपक्व निर्विकल्प समाधि-अवस्था में (तदुपलक्षित एकरस प्रत्यक् स्वरूप में) कोई दृश्य अवशिष्ट नहीं रहता। दृङ्मात्र में दृश्यसामान्य का अभाव (अविद्या की अभाववृत्ति) भी नहीं है। शिला परप्रकाश्य

और आत्मा स्वयंप्रकाश है। मन की ऐसी स्वयं अनुभूत, प्रचारशून्य, परिपूर्ण ब्रह्माकार स्थिति ही मुमुक्षु के लिए परम अभीप्सित है।

निस्तरङ्गोऽतिगम्भीरः सान्द्रानन्दसुधार्णवः।
माधुर्यैकरसाधारः एक एवास्ति सर्वतः ॥११॥

एकमात्र चिदात्मा ही सर्वत्र विद्यमान है। वह स्थिर और अत्यन्त गम्भीर है, वह अमृत का समुद्र है। आत्मा केवल एकरस आनन्द है। आनन्द ही आत्मा का असाधारण धर्म है। जबतक साक्षात्कार नहीं होता, तबतक यह पूर्णानन्द हृदय में अभिव्यक्त नहीं होता। फलस्वरूप मुमुक्षु कृतकृत्य नहीं हो पाता। देखिये 'सुख और दुःख' तथा 'आनन्दतत्त्वमीमांसा'

अब आत्मा की अद्वयता के सम्बन्ध में कहते हैं—

समस्तं खल्विदं ब्रह्म सर्वमात्मेदमागतम्।
अहमन्य इदं चान्यदित्यखण्डं न खण्डय ॥१२॥

यह दृश्यमान अखिल प्रपञ्च एकमात्र आत्मा ही है। अतएव 'मैं भिन्न हूँ और जगत् मुझसे पृथक् है' इस प्रकार एक अखण्ड प्रत्यक् ब्रह्म को इदं और आनन्दरूप में विभक्त मत करो। सभी जड़-चेतन पदार्थ एक महाचैतन्य में कल्पित हैं। ब्रह्म सर्वव्यापक है। जिनमें पुर्यष्टक नहीं है,अतएव जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में अक्षम है, वे मृत्तिका, पत्थर आदि जड़ हैं। जिसमें पुर्यष्टक है, अतएव जो चिदाभासयुक्त है, वह चेतन है। वास्तव में जड़-चेतनविभाग मायाकृत है, व्याप्य-व्यापक कल्पना मिथ्या है और त्रिपुटीपूर्वक ज्ञान भी यथार्थ नहीं है (२३ वाँ श्लोक देखिये)।

यदैव ब्रह्मणो रूपं ततं बुद्धमखण्डितम्।
तदा विस्तीर्णः संसारः परमेश्वरतां गतः ॥१३॥

जिस समय मुमुक्षु साक्षात्कार के फलस्वरूप ब्रह्म की अखण्डता को जान लेगा, उसी समय यह विस्तीर्ण संसार ब्रह्म ही हो जायगा। अज्ञान के निवृत्त होने पर संसार निवृत्त हो जाता और अधिष्ठान ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है।

समस्तमेव ब्रह्मेति भाविते ब्रह्म वै पुमान्।
पीतेऽमृतेऽमृतमयः को नाम न भवेदिति ॥१४॥

'सभी कुछ ब्रह्म है' ऐसी परिपक्व भावना से पुरुष ब्रह्म ही हो जाता है। भला अमृत-पान करने पर कौन अमर न होगा? ज्ञान वस्तुतन्त्र होता है। जीव भ्रमवश अपने को मर्त्य, सुखी या दुःखी मानता है। भ्रम के निवृत्त हो जाने पर उसका परमार्थस्वरूप एका-एक अभिव्यक्त हो उठता है। वास्तव में जो जैसा है, भ्रमकाल में भी वैसा ही रहता है, किन्तु मानव भ्रमवश उसे विपरीत जानता हैं। भ्रम हट जाने पर तो वह जो सभी समय था, वही हो जाता है, यह वस्तुस्थिति है। मुक्ति जन्य पदार्थ नहीं है। जीव सदा ही मुक्त है। न जानने से ही उसे बन्धन होता है। वह व्यावहारिक सत्य है। जान लेने पर मुक्ति हो जाती है। परिज्ञात आत्मस्वरूप पारमार्थिक सत्य है।

अब साक्षात् ज्ञान की आवश्यकता बतलायी जाती है।

भव्योऽसि चेत्तदेतस्मात् सर्वमाप्नोषि निश्चयात्।
नो चेद् वह्निरपि सम्प्रोक्तं त्वयि भस्मनि हूयते ॥१५॥

यदि तुम श्रद्धालु एवं विवेकी होगे, तभी सर्वत्र ब्रह्मनिश्चयपूर्वक ब्रह्माभ्यासद्वारा ब्रह्म को प्राप्त कर सकोगे। अन्यथा अधिक उपदेश करना भस्म में होम करने की तरह व्यर्थ ही होगा। यह उपशम प्रकरण के २६ वें सर्ग का १२ वाँ श्लोक है। मूल ग्रन्थ मे भगवान् शुक्र ने दानवराज बलि से इस तत्त्वसार का उपदेश किया है।

अनात्मनिरसनपूर्वक प्रत्यक्स्वरूप में सर्वदा स्थिति का अभ्यास

किये बिना साक्षात्कारप्राप्ति नहीं होती। फलस्वरूप साधक 'ज्ञानबन्धु' रह जाता है, सम्यक् ज्ञानी नहीं हो पाता। 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति, भक्त्या मामभिजानाति, अकृत्वा दृश्यविलयमज्ञात्वा तत्त्वमात्मनः। ब्रह्मशब्दैः कुतो मुक्तिः" आदि शास्त्रवचनों का यही तात्पर्य है, यह अगले श्लोक में बतलाया जा रहा है—

अपि विज्ञाततत्त्वेन तथाऽभ्यस्यमिदं सदा ।
न नाममात्रात् कतकफलमम्बुप्रसादकम् ॥१६॥

जिसने आत्मतत्त्व का परोक्ष ज्ञान प्राप्त किया है, उसे सर्वदा ब्रह्माभ्यास में निरत रहना चाहिए, क्योंकि कतकफल का केवल नाम लेने से ही जल निर्मल नहीं हो जाता। 'तच्चिन्तनं तत्कथनम्,' 'ज्ञाते वस्तुन्यपि बलवती वासनाऽनादिरेषा', स्वात्मन्येव सदा स्थित्वा मनो नश्यति योगिनः', 'प्रतीतिर्जीवजगतोः स्वप्नवद्भाति यावता, 'प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यः कदाचन', जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहे च स केवलः', आदि सभी शास्त्रवाक्य वासनाक्षय और मनोनाशद्वारा दृढ़ या अप्रतिबद्ध अपरोक्ष ज्ञानसाधन का उपदेश करते हैं। सम्यक्ज्ञान या आत्मसाक्षात्कारके बिना मुक्तिसुख प्राप्त नहीं होता ('चित्त-विश्रान्ति' और आत्मनिरूपण' निबन्ध देखिये)।

अहमेव परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम् ।
इति स्यान्निश्चितो मुक्तो बद्ध एवान्यथा भवेत् ॥१७॥

जिसे 'मैं वासुदेव अविनाशी परब्रह्म ही हूँ' ऐसा निश्चय उत्पन्न हो जाय, वह मुक्त हो जाता है। जिसे ऐसा निश्चय नहीं होता, वह बद्ध ही रहता है (१५ वाँ श्लोक देखिये)।

नेति नेतीति नेतीति शेषितं यत्परं पदम् ।
निराकर्तुमशक्यत्वात्तदस्मीति सुखी भव ॥१८॥

'कार्य-कारण, स्थूल-सूक्ष्म समस्त दृश्यप्रपञ्च का निरसन करने के उपरान्त उसकी परिसमाप्तिरूप में जो शुद्ध साक्षी अवशिष्ट रहता है, जिसका निषेध कदापि सम्भव नहीं है वह प्रत्यक्चैतन्य ही मैं हूँ' ऐसा साक्षात् जानकर मुक्तिसुख का अनुभव करो। सब त्रिपुटीदृश्य प्रातिभासिक एवं मिथ्या हैं, यह जानकर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप अखिल प्रपञ्च का त्याग करने पर त्यागकर्ता का शुद्ध स्वरूप त्याग के पर्यवसान के प्रकाशकरूप में अवश्यमेव अवशिष्ट रहता है। त्याज्य पदार्थके परित्यक्त होने पर त्यागकर्ता लुप्त नहीं हो सकता। अन्यथा यदि त्याग करने वाला ही न रहे, तो त्याग किस तरह सिद्ध होगा? त्यागयोग्य पदार्थ त्यागकर्ता से अवश्य भिन्न है, अतः सर्वत्याग सम्पन्न होने पर त्यागकर्ता का निरभिमान; वास्तवस्वरूप—जो त्याज्य पदार्थ तथा त्याग से सर्वथा असंश्लिष्ट है और इसीलिए जो परित्यक्त होने योग्य नहीं है—स्वयं अनिवार्य रूप में अवशिष्ट रहता है। वही अहमर्थ का अधिष्ठान प्रत्यगात्मा है (देखिए सर्वत्याग या संन्यास' शीर्षक निबन्ध)। यह निर्विषय, शुद्ध आत्मस्वरूप को सहज में क्षण-क्षण अनुभव करने की सुन्दर युक्ति है। यह ६ ठें तथा ८ वें श्लोक की व्याख्या में पीछे बतलाया जा चुका है (देखिये 'चित्तविश्रान्ति' और 'साधनरहस्य' शीर्षक निबन्ध)।

आत्मा की अद्वयता का पुनः उपदेश किया जा रहा है—

आत्मानं सततं ब्रह्म विद्धि चैकं निरन्तरम्।
अहं ध्याता परं ध्येयमखण्डं खण्डसे कथम् ॥१९॥

सकल व्यवधान या भेदरहित,एक अद्वय ब्रह्म को ही मुमुक्षु अपना स्वरूप जाने। अपने को कभी भी ध्याता और ब्रह्म को ध्येय न समझ; क्योंकि अखण्ड ब्रह्म त्रिपुटी द्वारा किस तरह खण्डित(विभक्त) होगा? १२ वें श्लोक में पहले ब्रह्म की अखण्डता उपदिष्ट है। सब भेद मायिक एवं मिथ्या हैं। प्रपञ्च-विस्मरण (त्रिपुटी-निरसन) के बिना उत्तम सुख या ब्रह्मानन्दप्राप्ति सम्भव नहीं है।

प्रश्न—प्रत्यक् ब्रह्म कैसा है ? उत्तर कर्मरूप में तुम्हारे ज्ञान का विषय न होते हुए भी वह प्रत्यक्ष अनुभूयमान तुम्हारा निजस्वरूप है।

प्रश्न—किस अवस्था में उसे उस रूप में जाना जाता है ?

उत्तर– साक्षात्कारज्ञान का उदय होने पर।

प्रश्न ज्ञान किसे कहते हैं ? उत्तर आवरणभङ्ग का नाम ज्ञान है। अन्तिम ब्रह्माकारवृत्ति द्वारा आवरण का विनाश होता है। उस समय निरावरण आत्मा स्वयं प्रकाशित होता है।

प्रश्न– तब तो आत्मा वेद्य हो जायजा ? उत्तर आवरण अभिभव का नाम ही वेद्यता है। आवरण कल्पित है, आत्मा की वेद्यता (वृत्तिव्याप्ति) भी सुतरां कल्पित है। आत्मा साक्षात् अपरोक्ष है, अतः अवेद्य है; क्योंकि वह वेत्ता का स्वसंवेद्य स्वरूप है।

प्रश्न– तब तो आत्मज्ञान निरर्थक हुआ ? उत्तर—वस्तुस्वरूप के आवृत रहने पर आवरण का अपसारण निरर्थक नहीं है। आवरण आगन्तुक एवं भ्रमकल्पित है। आत्मवस्तु ज्ञानी का निज निरावरणस्वरूप है, भिन्न रूप में वेद्य नहीं है। अतएव आत्मा में फलव्याप्ति सम्भव नहीं है।

प्रश्न १९ वें श्लोक का तात्पर्य क्या है ? उत्तर –भेद भ्रम से उत्पन्न होता है। समस्त शास्त्र भेद का निषेध करते हैं। सुतराम् ब्रह्म एक एवं अद्वितीय सिद्ध हुआ और भ्रम विगलित हुआ। मुमुक्षु को इस निर्भ्रान्त वस्तुस्थिति का अवलम्बन करना चाहिए। ध्याता, ध्येय और ध्यान में सत्यताबुद्धि का परित्याग करना चाहिए। फलस्वरूप शुद्ध, अखण्ड प्रत्यक् चेतन स्वयं अनुभूत होता है।

प्रश्न—ब्रह्माभ्यास् की अवधि क्या है ? उत्तर –अज्ञाननिवृत्तिपर्यन्त ध्यान-समाधि का अभ्यास नितान्त आवश्यक है। चौथी भूमिका प्राप्त होने पर अभ्यास का प्रयोजन नहीं रहता।

प्रश्न—तब ज्ञानोत्तर तीन भूमिकाएँ किस तरह प्राप्त होंगी ? उनके बिना प्राप्त हुए तत्त्वज्ञानी को जीवन्मुक्तिसुख प्राप्त न होगा।

उत्तर-आकाशगमनादि के समान ज्ञान की पंचमी आदि भूमिकाएँ सहज संस्कार पूर्वक अभ्यास के फलस्वरूप किसी-किसी ब्रह्मज्ञानी को स्वतः प्राप्त हो जाती हैं, सबको नहीं। ज्ञान (सत्त्वापत्ति-भूमिका) के प्राप्त होने पर ही मुक्ति (नित्यतृप्ति) सिद्ध होती है।

प्रश्न—सवृत्तिक निजानन्द का अनुभव तो न होता होगा ? उत्तर—त्रिपुटी के मिथ्या होने से वृत्तिपूर्वक आनन्दभोग की दृढ़ इच्छा तत्त्वज्ञ को उदित नहीं होती। ज्ञानी की सब इच्छाएँ निवृत्त हो जाती है। जो अखण्ड आनन्दस्वरूप ब्रह्म हैं, वे प्रतिबिम्बानन्द की इच्छा नहीं करते; क्योंकि उनका भोक्ता, भोग और भोग्यरूप त्रिपुटीभ्रम सर्वथा विनष्ट हो जाता है। परिच्छिन्न अहम्भाव का सर्वथा अनुदय आत्मज्ञानी की अवधि है, यह वर्तमान श्लोक का निकृष्ट अर्थ है। वेदान्तशास्त्र में इससे अधिक ज्ञान उपदिष्ट नहीं हुआ है।

सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते।
ध्यानस्यविस्मृतिः सम्यक् समाधिरभिधीयते ॥२०॥

'चिन्मात्र' ब्रह्म ही मैं हूं,ऐसा चिन्तन 'निदिध्यास' कहा जाता है। अहं आदि त्रिपुटीभाव के अभावपूर्वक अन्त.करण की ब्रह्मस्वरूप में एकीभूत होकर अवस्थिति निर्विकल्प समाधि है। ध्याता आदि त्रिविध विभाग अन्तःकरण का विकारमात्र है। अन्तःकरण अविद्या का कार्य है, अतः मिथ्या है। ऐसे विचार से अन्तःकरण ध्याता और ध्येय उभय विभाग का परित्याग करके ब्रह्ममात्रस्वरूप में एकीभूत हो जाता है, क्योंकि सब कुछ ब्रह्म है। अन्तःकरण भी ब्रह्म है। ऐसी निर्विकल्प अवस्था में प्रत्यक् ब्रह्मभाव स्वसंवेद्य हो जाता है, अतः ब्रह्मचिन्तन या ब्रह्म के प्रत्यग्रूप में स्फुरण का विस्मरण (अभाव) नहीं

होता। जब तक साक्षात्कारवृत्ति का उदय नहीं होता, तबतक ध्याता और ध्येयाकार वृत्तिशून्य अखण्ड अन्तःकरण ब्रह्मस्वरूप में एकीभूत होकर (स्वयंबोधरूप ब्रह्म द्वारा प्रदीप्त होकर) अवस्थान करता है। अखण्ड अवस्थान या 'वर्त्तन' को भी 'वृत्ति' कहा जाता है। यही निर्विकल्प समाधि है। अखण्ड अन्तःकरण स्वयंप्रकाश ब्रह्मस्वरूप के आकार मे स्वयं आकारित रहता है। त्रिपुटीभाव अखण्ड, सूक्ष्म और अज्ञात रूप में विद्यमान रहता है। आत्मसाक्षात्कार उदित होने पर अविद्या तथा उसका कार्य अन्तःकरण विनष्ट हो जाता है। तब अहम्भाव का आत्यन्तिक अभाव सम्भव होता है, इससे पहले नहीं।

प्रश्न ब्रह्म अखण्ड, एकरस निजस्वरूप है, त्रिपुटीभाव कल्पित मिथ्या है, इस सम्बन्ध में संक्षेप से और भी कुछ बतलाइये। उत्तर–१२ वें तथा १९–२० श्लोकों में ब्रह्म की यह अखण्डता उपविष्ट हुई है। ब्रह्म में सजातीय, विजातीय या स्वगत भेद कुछ भी नहीं है। एक, अद्वितीय, निरवयव महाचैतन्य में अन्य कोई चेतन वस्तु भी नहीं है और न जड़ वस्तु ही है। साथ ही अध्यस्त सुसूक्ष्म (अज्ञात) त्रिपुटीभाव या निर्विकल्प समाधि भी नहीं है, क्योंकि इससे अवयव-अवयवीभाव या स्वगतभेद आ जायगा। पाश्चात्य दार्शनिकों को भी सिद्धान्त की उपलब्धि नहीं हो सकी, वे ब्रह्म की वेद्यता-अवेद्यता को हृदयङ्गम नहीं कर सके। 'मैंने ब्रह्म को जाना है' ऐसा त्रिपुटीयुक्त परिच्छिन्न ज्ञान सम्यक् ज्ञान नहीं है। निरावरण प्रत्यग्ब्रह्म का स्वाभाविक स्फुरण ही यथार्थ ज्ञान (अधिष्ठानबोध) है। इस अभ्रान्त अनुभव के सकृत् प्राप्त होने पर फिर 'अहम्भाव' उदित नहीं होता। सवृत्तिक मुक्तिसुख की किसे इच्छा होगी? अणिमा आदि योगैश्वर्य, असंसक्ति आदि ज्ञानभूमिका या मुक्ति का विलक्षण सुख आदि सब व्यवहार मायिक एवं मिथ्या होने से ब्रह्मज्ञानी को उनमें कोई आस्था नहीं रहती। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म हो जाता है।

प्रश्न–तब ज्ञान का उपदेश कौन करेगा? 'उत्तर–शास्त्र, ज्ञानोपदेश

मुक्ति ये सब अतत्त्वज्ञ मुमुक्षु के लिए उत्तम कल्पनाएँ हैं। मायावी परमात्मा को नियतिशक्ति इन सबको सम्पन्न करती है। ज्ञानी द्वारा किया हुआ शास्त्रोपदेश या जीवन्मुक्ति सत्य नहीं है।

प्रश्न – तब तो यह लघुयोगवाशिष्ठ प्रकरण भी व्यर्थ है। उत्तर– नहीं, उत्तम मुमुक्षु के लिए यह अत्यन्त हितकर है। इसके विचार तथा अभ्यास से उसके सकल दुःख निवृत्त होते हैं और वह अविनाशी ब्रह्म हो जाता है। बोधस्वरूप ब्रह्म अत्यन्त निर्विकल्प है। वाशिष्ठ-शास्त्र पारमार्थिक न होने पर भी निरर्थक नहीं है।

ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहङ्कृतिं विना।
सम्प्रज्ञातसमाधिः स्यात् ज्ञानाभ्यासप्रकर्षतः ॥ २१ ॥

'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार त्रिपुटीपूर्वक ज्ञान के अत्यन्त अभ्यास से अहम्भाव (पृथक् ध्यातृभाव) शिथिल हो जाता है और चित्त प्रतिक्षण ध्येय ब्रह्माकारवृत्त्यवशेषयुक्त होकर ध्येयाकारमात्र रूप से अवस्थान करता है। यह सम्प्रज्ञात समाधि है।

प्रश्न—निर्विकल्प समाधि किसे कहते हैं? उत्तर—ध्यातृभाव का परित्याग कर एकरस ध्येयाकारमात्र रूप में चित्त की निश्चल स्थिति सविकल्प समाधि है। ध्येयाकार वृत्तिका भी परित्याग करके समग्र (अखण्ड) चित्त की ब्रह्मवस्तुमात्र रूप में अचल अवस्थिति निर्विकल्प समाधि है। वृत्ति (विभाग) शून्य चित्त की ब्रह्माकार में स्थिति का नाम असम्प्रज्ञात समाधि है—"मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः। साऽसम्प्रज्ञातनामाऽसौ समाधिरभिधीयते। प्रशान्तवृत्तिकं चित्तं परमानन्ददीपकम्। असम्प्रज्ञातनामाऽयं समाधिर्योगिनां प्रियः॥" ९ और २४वें श्लोक में इस समाधि के विषय में पहले कहा जा चुका है (देखिये समाधिषट्क)।

अब ज्ञानी की दृष्टि में सारा संसार स्वतः मिथ्या हो जाता है, यह बतलाया जा रहा है—

कल्पान्तवायवो वान्तु यान्तु चैकत्वमर्णवाः ।
तपन्तु द्वादशादित्या नास्ति निर्मनसः क्षतिः ॥२२॥

कल्प के अन्त में चाहे प्रचण्ड वायु बहे, सारी पृथ्वी चाहे जल-मग्न हो जाय या बारह सूर्य तपें, फिर भी ब्रह्मज्ञका कुछ भी नहीं बिगड़ता। उसका कर्त्तव्य भी कुछ अवशिष्ट नहीं रहता, क्योंकि उसका मन समूल नष्ट हो जाता है। इस श्लोक में ज्ञान का दृष्टफल बतलाया गया है (२७ वाँ श्लोक देखिये)।

प्रश्न--ज्ञानी का मन समूल नष्ट हो जाता है, इसका क्या तात्पर्य है? उत्तर—आत्मसाक्षात्कार उत्पन्न होने पर अज्ञान और अन्त करण दोनों ही नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार तन्तु के जलने से वस्त्र जल जाता है। अहम्भाव (जीवभाव), भय दुःख आदि सभी अन्तःकरण के सात्त्विक एवं तामसिक परिणाममात्र हैं और भय तथा दुःख का अनुभव अन्तःकरण का राजसिक विकारमात्र है। ब्रह्मज्ञान से अन्तःकरण के बाधित होनेपर चिदाभासत्रिपुटी भी स्वयं बाधित हो जाती है। इसीलिए ब्रह्मवेत्ता नित्य-निरन्तर निजानन्द में मग्न रहते हैं।

प्रश्न—ज्ञानी का यह परसंवेद्य लक्षण क्या शास्त्र में पाया जाता है? उत्तर—वीतरागभयक्रोधा मन्यमा मामुपाश्रिताः। बहवो ज्ञान-तपसा पूता मद्भावमागताः। दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥" दृष्टदुःखेष्वनुद्वेगो विद्यायाः प्रस्तुतं फलम्।' विद्याफलं स्यादसतो निवृत्तिः प्रवृत्तिरज्ञानफलं तदीक्षितम्। तज्ज्ञाज्ञयोर्यन्मृगतृष्णिकादौ नो चेद्विदो दृष्टफलं किमस्मात्।" आदि अनेक शास्त्रवचन इस विषय में प्रमाण हैं।

प्रश्न—'अनुद्वेग', 'निवृत्ति' आदि तो मन की वृत्तियाँ हैं न? उत्तर—नहीं 'ये सब शब्द निषेधमुख से निजानन्द के नित्य स्फुरण को लक्षित करते हैं। अखण्ड आनन्दस्वरूप में स्थित ज्ञानी के आन्तरिक

अनुभव का अन्य पुरुष बाह्य लक्षण से अनुमान करते हैं । ज्ञानी का शरीर और मन अज्ञ की दृष्टि से केवल कल्पित है । जैसे आकाश अवकाशरूप में सर्वदा स्थित है,वैसे ही आत्मज्ञ पुरुष भी ब्रह्मानन्दस्वभाव में स्वतः और सर्वदा स्थित रहते हैं –प्रत्यक्ष अनुभूयमान निजानन्द में फलव्याप्ति (वृत्तिपूर्वक भोक्ताद्वारा कृत आनन्दभोग) सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञानी का अन्तःकरण और जीवभाव बाधित हो जाते हैं । यही उपर्युक्त सभी शास्त्र वचनों का तात्पर्य है ।

प्रश्न – तब तो सरूप मनोनाश और ज्ञान का दृष्ट फल आदि निरर्थक हो जायँगे ? उत्तर–अतत्त्वज्ञ मुमुक्षु पुरुष के ज्ञानोदय के लिए शास्त्र व्यावहारिक दृष्टि का अनुवाद करता है । वास्तव में मन और शरीर माया के कार्य होने से नितान्त ही मिथ्या हैं । ज्ञान का उदय होने पर यह प्रत्यक्ष अनुभूत होता है (देखिये 'सृष्टिसमीक्षा') ।

प्रश्न –प्रकृत श्लोक का तात्पर्य क्या है ? उत्तर ब्रह्मसुख का अनुभवआन्तरिक होने पर भी ज्ञानी की सर्व दुःखनिवृत्ति बाह्य लक्षणोंसे भी दिखाई पड़ती है । इस प्रकार 'यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते' इस गीतोक्ति के अनुसार ज्ञानी समस्त दुःखों का आत्यन्तिक नाश हो जाता है । सुतराम्, व्यावहारिक दृष्टि से भी ब्रह्मज्ञान अत्यन्त सफल है, यह २२ वें श्लोक का अभिप्राय है ।

पूर्णानन्दस्वभाव में निरन्तर स्थिति का उपदेश करते हुए वशिष्ठजी कहते हैं—

या चितिः सर्वभूतानामुदयव्ययसाक्षिणी ।
ता चितिं पश्यतावस्थां पूर्णानन्दघनामृताम् ॥२३॥

हे राम ! सकल भूतों की उत्पत्ति और विनाश के प्रकाशक, परिपूर्ण सुखस्वरूप प्रत्यग्ब्रह्म में तुम विचार की सहायता से सवदा स्थित रहो । जीव का यथार्थ स्वरूप अखण्ड, एकरस आनन्द है । ऐसे निज स्वभाव में स्थित होना ही परमपुरुषार्थ है । भूत और भौतिक समस्त

दृश्य मायिक एवं आगमापाययुक्त हैं। मिथ्या (त्रिपुटी) दृश्य केपरित्याग से चित्त स्वयं प्रत्यक् चेतन से एकीभूत होकर स्थित होता है। यह 'विचार' है। प्रतिक्षण इनके अवलम्बन से अनायास साक्षीस्वरूप का अनुभव सम्भव होता है। सुदृढ़ अनुभव ही आत्मसाक्षात्कार है। इसका फल सहज आत्मस्थिति या जीवन्मुक्ति है।

प्रपञ्चमिथ्यात्व का कारण-निर्देश करते हुए वशिष्ठजी कहते हैं—

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् सचराचरम्।
मनसो ह्युन्मनीभावात् द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥२४॥

स्थावर-जङ्गमात्मक सकल जगत् अविद्याकार्य मन से रचित हुआ है, मन के अमन होने पर किसी भी द्वैतपदार्थ की प्रतीति नहीं होती। मनोलय को 'उन्मनीभाव' कहते हैं,यह पहले चौथे प्रकरण में बतलाया जा चुका है। ध्याता और ध्येयाकार मन के विभाग को प्रतिभासमात्र जानकर परित्याग करने पर मन ब्रह्मस्वरूप में एकीभूत होकर अचल स्थित होता है। उस समय समस्त द्वैत पदार्थों का अभाव प्रत्यक्ष अनुभूत होता है। अतएव मुमुक्षु को मन का प्रचार हर प्रयत्न से निरुद्ध करना चाहिए।

प्रश्न—मन के निरोध में युक्ति क्या है? उत्तर—दो विषयाकार वृत्तियों के सन्धिकाल में या जाग्रत्, निद्रा आदि दो अवस्थाओं के अन्तराल में मन स्वयं प्रचारशून्य स्थित होता है। मन के आविर्भाव और तिरोभाव को तुम ही साक्षीरूप से जानते हो। फिर निर्विकल्प समाधि में मन ब्रह्मभावापन्न हो जाता है और आत्मसाक्षात्कार का उदय होने पर वह बिलकुल विनष्ट हो जाता है। ऐसा जानकर प्रतिक्षण मन के प्रभावसम्पादन का प्रयत्न करने से धीरे-धीरे वह निरुद्ध हो जाता है।

प्रश्न—मन की क्षणिक प्रचारशून्य स्थिति के अनुभव से क्या लाभ होता है? उत्तर—जिस समय मन एक विषय से दूसरे विषय की ओर

जाता है, उस समय एक क्षण के लिए वह बीच में निर्व्यापार स्थित होता है, इस स्वभावसिद्ध तत्त्व पर ध्यान जाने पर अपना साक्षिभाव अनुभूत होता है और क्षण-क्षण में मन का प्रचार अनायास ही बन्द किया जा सकता है। बलपूर्वक प्राणायाम, प्रत्याहार की सहायता से मन का निरोध करना कठिन है, किन्तु क्षण-क्षण में मन की स्वाभाविक लय-विक्षेपशून्य अवस्था (क्षणिक समाधि) के अनुभव में आने पर मन सहज ही वशीभूत हो जाता है। 'मन की वृत्तियाँ या सङ्कल्प-विकल्प मेरे अधीन हैं, मैं चेत्य का चिन्तन कर भी सकता हूँ और न करते हुए भी थोड़ी देर के लिए निश्चित (चित्तरहित) रह सकता हूँ। मन के समस्त व्यापार कल्पना मात्र हैं, अवस्तुभूत होते हुए भी वे व्यर्थ ही जीव को अशेष दुःख देते हैं' (उपशम-प्रकरण के ५-५१ इन दो सर्गों को देखिये)—इस प्रकार जितना-जितना मन को उठने न दिया जायगा या मन के निश्चलभाव पर लक्ष्य स्थिर होगा, उतना-उतना अपना साक्षि-स्वभाव स्पष्ट अनुभूत होता जायगा—यही इसका प्रकृष्ट लाभ है। विषयचिन्तनकृत चञ्चलता के परित्याग से चिदाभास(प्रमाता) चेतन अनायास निर्विकार प्रत्यक् चेतन हो जाता है, जैसे जल में पड़ा हुआ सूर्यप्रतिबिम्ब जल के सूख जाने पर आकाशस्थित सूर्य ही हो जाता है। एक क्षण के लिए भी चित्त के निश्चल एवं अन्तर्मुख होने पर सहज ही प्रत्यगात्मा का अनुभव होता है। 'क्षण-क्षण में निश्चिन्त होकर अवस्थान करने पर पूर्ण विश्रान्तिसुख अनुभूत होता है और अनुकूल संस्कारों का प्रचय होता है' युक्ति तथा अनुभव की सहायता से यह जान लेने पर कौन मुमुक्षु मनोनिरोध का प्रबल प्रयत्न न करेगा साक्षिस्वरूप में क्षण-क्षण में स्थित होने पर मन का निरोध सहज सिद्ध हो जाता है। प्रमाता रहकर मन का निरोध करना सर्वथा असम्भव है ('साधन-रहस्य' निबन्ध में लघुवाक्यवृत्ति की व्याख्या और 'चित्त-विश्रान्ति' देखिये।

प्रश्न – इस श्लोक का तात्पर्य क्या है? उत्तर–प्रपञ्च तथा प्रमातृ-

भाव में सत्यताबुद्धि ही समस्त दुःखों का कारण है। (१ चञ्चल मन ही प्रपञ्चदर्शन में हेतु है, (२) मन के निश्चल होने पर प्रमातृभाव नष्ट हो जाता है। (२१ वाँ श्लोक देखिये) और (३) साक्षिस्वभाव अनुभूत होता है, ४) द्वैत की आत्यन्तिक अनुपलब्धि ही मुक्ति है। प्रस्तुत श्लोक का यह चार प्रकार का तात्पर्य है। (निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध ९४ वें सर्ग से ९९ सर्गतक शिखिध्वज का उपाख्यान देखिये)। प्रपञ्च सत्य है' और 'मैं उसका द्रष्टा (प्रमाता) हूँ' ये दो प्रकार के भ्रम (क्रमशः संसर्गाध्यास और तादात्म्याध्यास जीव के बन्धन हेतु हैं। २३ वें श्लोक में बतलाया गया कि है (१) प्रपञ्च मन से कल्पित हैं—मन का विलासमात्र है,अतः मिथ्या है। प्रपञ्च का मिथ्यात्वसिद्ध होने पर (२) प्रमातृभाव भी शिथिल हो जाता है, क्योंकि असत्य चेत्य का कोई चिन्तन नहीं करता। फलतः चित्त निश्चल हो जाता है और (३) स्वकीय साक्षीभाव अनुभूत होने लगता है। अन्त में २१ वें श्लोक में प्रदर्शित क्रमानुसार निर्विकल्प समाधि आविर्भूत होती है और उसका परिपाक होने पर आत्मसाक्षात्कार उदित होता है। तब (४) प्रपञ्च-प्रतीति ओर प्रमातृभाव समूल विनष्ट हो जाते हैं। उत्तम मुमुक्षु के लिए वृहद्वासिष्ठ के पूर्वोक्त ६ सर्ग अत्यन्त मनोयोगपूर्वक विचारणीय हैं।

'स्थूणानिखनन' न्याय से ऐकात्म्यभाव का पुनः उपदेश दे रहे हैं।

यदस्पदं शिवं शान्त यस्यान्तजगतः।
स्पन्दास्पन्दविलासात्मा स एकोऽत्र चिदाकृति ॥२५॥

जो निष्कम्प, शान्त और सुखरूप आत्मवस्तु है, उसी में भ्रम से विश्व कल्पित होता है। कल्पित पदार्थ का वास्तव स्वरूप अधिष्ठान ही है, अतः चर और अचर जगत् एकमात्र चिदात्मा है—आत्मा के सिवा और कुछ भी नहीं है।

प्रमातृभाव के बाधित होने पर ज्ञानी शरीर को अपना नहीं समझता, यह बात अब दृष्टान्त द्वारा बतलायी जा रही है—

अहिनिर्ल्वयिनीमहिरात्मतया जगृहे परिमोक्षणतस्तु परा।
परिमुच्यतु तामुरगःस्वबिले न निरीक्षत आत्मतया तु पुनः॥२६॥

सर्प केंचुल का परित्याग करने के पहले उसे अपनी समझता है। बाद में उसे गढ़े में छोड़कर फिर उसे अपनी नहीं समझता। केंचुल को देखकर उसमें उसे जरा भी आत्मबुद्धि का उदय नहीं होता। ज्ञानी भी ठीक इसी प्रकार शरीर को उदासीन की तरह देखता है। ज्ञानी अशरीर आत्मा हो जाता है, अतः शरीर में उसका उदासीनभाव सहजसिद्ध है। जिस प्रकार दूसरेके शरीर में किसी को कभी भी निजत्वबुद्धि नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञानी को अपने शरीर में भी 'यह मैं हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं हो सकती। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह वृत्तिज्ञान भी वास्तव में निवृत्त हो जाता है, क्योंकि एकरस आत्मचैतन्य में अन्तकरणः और उसका परिणाम सर्वथा असम्भव है। प्रत्यग्ब्रह्म में स्वगतभेद भी नहीं है, यह पीछे बतलाया जा चुका है।

प्रश्न-तब ज्ञानी का शरीर किस प्रकार स्थित रहता है? उत्तर-प्राराधानुसर ईश्वर की नियतिशक्ति ज्ञानी के शरीर का पोषण करती है। सर्प की केंचुल भी छोड़ दिये जाने पर नष्ट नहीं हो जाती। जो सर्व-भूतों की सृष्टि करते हैं, वे ही उसका पालन करते हैं और समय आने पर संहार भी करते हैं। यह ईश्वरीय अटल नियम है। निजत्वबुद्धि(अभि-मान) शरीर के रक्षण-पोषण में हेतु नहीं है। प्रारब्ध कर्म ही एकमात्र हेतु है, अभिमानका त्याग करनेसे ज्ञानी का शरीर नष्ट नहीं हो सकता।

प्रश्न – 'अहं ब्रह्म' यह ज्ञान तो ज्ञानी को अवश्य रहेगा, अन्यथा वह 'ज्ञानी कैसे कहा जायगा? उत्तर--जिन्हें ज्ञानी कहा जाता है, वे न तो शरीर ही हैं ओर न मन ही। वे शुद्ध, बुद्ध, नित्यमुक्त आत्मा हैं। अज्ञानदशा में वे यह नहीं जानते, ज्ञान का उदय होने पर यह अज्ञान बिल्कुल विनष्ट हो जाता है। अतःवे जो सदा ही थे, भ्रमनाश होने पर वही हो जाते हैं। उनके शुद्धस्वरूप में अज्ञान का कार्य (शरीर और

मन कहाँ से आयेगा ? देहादि जगत्प्रतीति, दृश्यप्रपञ्च और प्रमातृभाव केवल अज्ञान का विलास है। ब्रह्मीभूत ज्ञानी का ब्रह्मज्ञान 'उपलक्षण' मात्र है। वह 'उपाधि' नहीं है, क्योंकि वर्तमान में वह विनष्ट हो चुकी है। 'विशेषण' भी नहीं है, क्योंकि ज्ञानी सकल अभिमानरहित, निरहङ्कार ब्रह्मस्वरूप है। प्रारब्धभोग, ब्रह्मज्ञान का संस्कार, ज्ञानोत्तर तीन भूमिकाएँ आदि अतत्त्वज्ञ मुमुक्षु को समझाने के शास्त्रीय उपाय हैं। पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा के अतिरिक्त विद्या, अविद्या कुछ भी नहीं है (उत्तम मुमुक्षु को मननोपयोगी विस्तृत 'सृष्टिसमीक्षा' निबन्ध अवश्य द्रष्टव्य है)।

उक्त पारमार्थिक स्वरूप में ज्ञानी की सहज स्थिति बतलायी जा रही है—

दोषबुद्ध्या भयातीतो निषेधान्न निवर्तते।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथाऽर्भकः ॥२७॥

निज ज्ञात ब्रह्मस्वभाव में गुण और दोष (धर्म-अधर्म) दोनों नहीं हैं, अतः ज्ञानी शास्त्रनिषिद्ध पापाचरण से स्वयं निवृत्त हो जाता है। 'यह पापकर्म है, अतः मेरे लिये अकरणीय है' इस प्रकार दोषबुद्धि से निवृत्त नहीं होता, क्योंकि ज्ञानीको किसी भय का कारण नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानी विहित स्नान-सन्ध्यादि कर्मों का स्वाभाविक रूप से अनुष्ठान करता है, यह मेरे लिये अवश्य करणीय है' इस तरह गुणबुद्धि से (चित्तशुद्ध्यर्थ) नहीं। ज्ञानी का आचरण बालक के समान अत्यन्त स्वाभाविक होता है। ज्ञानी का प्रमातृभाव और गुण-दोषबुद्धि सर्वथा निवृत्त हो जाती है। नियतिनिर्देश से उसकी सदाचार की अनुवृत्ति और निषिद्धाचरण की सहज निवृत्ति हो जाती है। जिस प्रकार बालक में विचार के बिना स्वाभाविक संस्कारावशात् प्रवृत्ति-निवृत्ति दिखाई पड़ती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी की भी शुद्ध संस्कारबल से शिष्टाचार-विषयक सहज अनुवृत्ति होती है। यद्यपि वास्तव में ज्ञानी की देह,

इन्द्रिय बाधित हो जाते हैं और वह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा ही हो जाता है, तथापि इस श्लोक में अतत्त्वज्ञ मुमुक्षु को समझाने के लिए ज्ञानी का ऐसा स्वभाव बतलाया गया है।

प्रश्न – २७ वें श्लोक का तात्पर्य क्या है? उत्तर—इस श्लोक में ब्रह्मज्ञान का व्यावहारिक फल दिखलाया गया है। (२२ वाँ श्लोक देखिये) धैर्य, निर्भयता, शिष्टाचार प्रभृति ज्ञानी की सहजसिद्ध दैवी सम्पत्ति है। उत्तम मुमुक्षु को इन सब गुणोंका यत्नपूर्वक सम्पादन करना चाहिए। मुक्त पुरुष में उनकी अनुवृत्ति ईश्वर की नियति के अनुसार अव्याहत रहती है। फलस्वरूप आस्तिकजन की ज्ञानसम्पादन में रुचि उत्पन्न होती है और सन्मार्ग में प्रोत्साहन प्राप्त होता है। विवेक, वैराग्य, विचार और मुमुक्षुता इन साधनसम्पत्तियों का लाभ ईश्वर का प्राथमिक अनुग्रह है और ज्ञानसिद्धि अन्तिम अनुग्रह। इससे जीव और जगत् परमेश्वर हो जाते हैं (१२ वाँ श्लोक देखिये)। नियति की अनुवृत्ति मायिक जगत् के अन्तःपाती है।

अनुत्कीर्णा यथा स्तम्भे संस्थिता शालभञ्जिका।

तथा विश्वं स्थितं तत्र तेन शून्यं न तत्पदम् ॥२८॥

जैसे स्तम्भ में काष्ठनिर्मित पुतली खोदी हुई न होनेपर भी विद्यमान प्रतीत होती है वैसे ही वास्तव में अविद्यमान होता हुआ भी विश्व मायाशक्ति के प्रभाव से ब्रह्म में प्रतिभात होता है। अतः ब्रह्मपद शून्य नहीं हो सकता, वह पूर्ण है। स्तम्भ में वास्तव में कोई मूर्ति नहीं है, क्योंकि वह असत् है। इस प्रकार मायिक जगत् भी परमार्थतः ब्रह्म में नहीं है। ज्ञानद्वारा जगत् का बाध होने पर स्वानुभवरूप प्रत्यग्ब्रह्म अवशिष्ट रहता है। शून्यवाद का निरसन युक्ति तथा अनुभूति की सहायता से पीछे किया जा चुका है (१७ वाँ श्लोक देखिये)।

पूर्वोक्त अर्थ ही प्रकारान्त से कहा जा रहा है—

यथाऽनुपुत्रिकाशून्यः स्तम्भोऽनुत्कीर्णपुत्रिकः ।
तथा भातं जगद् ब्रह्म तेन शून्यपदं गतम् ॥२९॥

स्तम्भ में कोई मूर्ति वास्तव में नहीं होती, क्योंकि उसमें कोई पुतली खोदी नहीं गयी होती, उसी प्रकार प्रतीयमान जगत् परमार्थतः ब्रह्म ही है। अतएव जगत् किसी भी काल में नहीं है।

प्रश्न— इन दो श्लोकों में क्या भेद है? उत्तर २८ वें श्लोक में अधिष्ठान ब्रह्म ही सत्य है (अशून्तपद) यह कहा गया है और इस श्लोक में कल्पित जगत् मिथ्या है (शून्यपद) यह कहा गया है।

जगत्सम्बन्धी अन्तिम निरूपणद्वारा योगवाशिष्ठसार के इस अन्तिम दसवें प्रकरण का उससहार करते हुए वशिष्ठजी कहते हैं—

सौम्याम्भसि यथा वीचिर्न चास्ति न च नास्ति च ।
तथा जगत् ब्रह्मणीदं शून्याशून्यपद गतम् ॥३०॥

जैसे स्थिर समुद्र में तरङ्ग नहीं हैं और हैं भी, वैसे ही अधिष्ठान ब्रह्म में यह जगत् है और नहीं भी है। अज्ञानदशा में जगत् प्रतीत होता और ज्ञान का उदय होने पर बाधित हो जाता है। अतः ब्रह्म जगद्रहित (शून्यपद) और जगत्सहित (अशून्यपद) दोनों ही है। अर्थात् व्यावहारिक दशा में ब्रह्म जगत्सहित और तात्त्विकदशा में जगद्रहित है। जैसे स्थिर जल में वायु के योग से तरङ्ग उत्पन्न होती है, वैसे ही माया के योग से ब्रह्म में जगत् आविर्भूत होता है। ज्ञान-दशा में जगत् ब्रह्म में विलीन हो जाता है। आत्मब्रह्म ही स्वयं अवशिष्ट रहता है, अतः वही पारमार्थिक सत्य है—ब्रह्म 'सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः। इदमेव तु सच्चास्त्रमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥'

□

डॉ० क्षितीश चन्द्र चक्रवर्ती जी की अनुपम कृतियाँ

१. गीतामृत
२. रामगीता
३. वेदान्त विज्ञान
४. उपनिषद का अनुभव
५. प्रपंच प्रतिति
६. वेदान्त रहस्य
७. सर्वत्याग आत्म निरुपण
८. सृष्टि समीक्षा
९. कर्मयोग काशीवास
१०. भक्ति और ज्ञान
११. समाधि और सर्व विज्ञान
१२. साधन सार संग्रह
१३. क्षेत्रज्ञ

प्राप्ति स्थान :

हिन्दी साहित्य कुटीर

के. १६/७, हाथीगली, वाराणसी-२२१००१

फोन नं० ०५४२-२४३५०१५